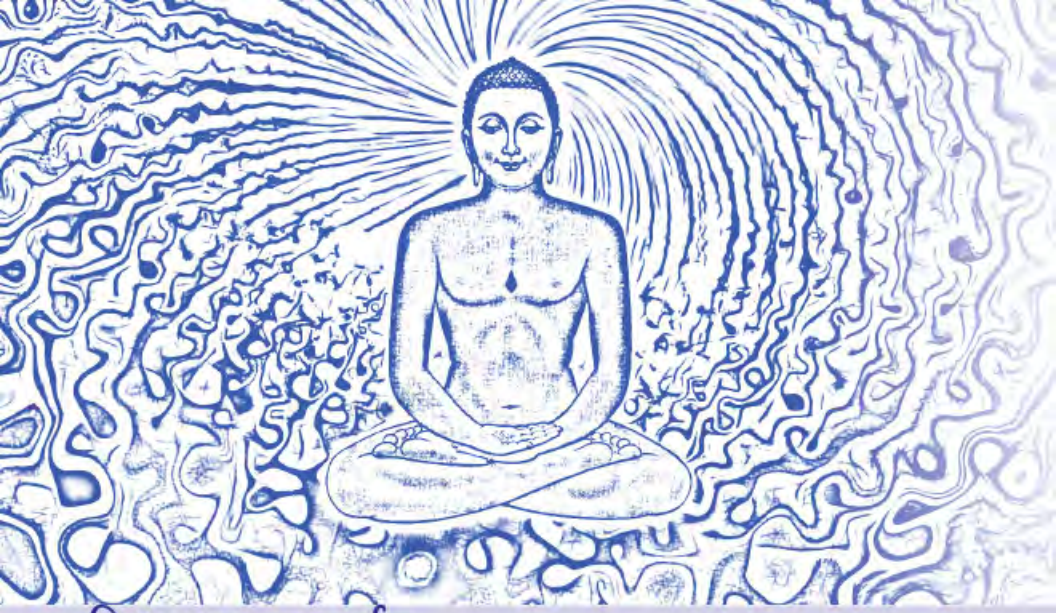


# इचान्भूति



आचार्य यशोविंजयसूरि



## નિશ્ચય સમ્યગ્દર્શન

દેવ, ગુરુ અને શાસ્ત્ર ઉપરની શ્રદ્ધા તે વ્યવહાર સમ્યગ્દર્શન છે. આ શ્રદ્ધા જ્ઞાનયુક્ત અને સ્થિર હોય છતાં તે પરદ્રવ્યમાં છે.

સ્વદ્રવ્યની ઓઢાણાણ કરવા માટે તે સહાયક છે. જેના આધારે સ્વદ્રવ્યની ઓઢાણાણ અને અનુભૂતિ થાય છે, તે નિશ્ચય સમ્યગ્દર્શન છે. પારકાનું સુખ જોઈ આપણે સુખ અનુભવીએ તે અને જાતે જે સુખ અનુભવીએ, તે બે વચ્ચે જે અંતર છે, તે અંતર વ્યવહાર અને નિશ્ચય સમ્યગ્દર્શન વચ્ચે રહેલું છે.

એક સુખના સમુદ્રની આસપાસ ભમે છે, બીજો સુખસમુદ્રમાં ડૂબકી મારે છે.

નિશ્ચય સમ્યગ્દર્શન = જેવી શ્રદ્ધા તેવી અનુભૂતિ = એક - અઘંડ એવા આત્માનો એક સમયે અનુભવ.

તેને નિર્વિકલ્પ અનુભૂતિ પણ કહી શકાય.

એ આત્મગુણ છે. ગુણ ગુણીથી જુદો ન હોય. વ્યવહાર સમ્યગ્દર્શન શુભ આત્મપરિણામરૂપ છે.

તેને તત્ત્વરૂચિ, પ્રશસ્તરાગાદિ શબ્દોથી ય સંબોધી શકાય.

અવિરતિ અને પ્રમાદદોષ છે, ત્યાં સુધી નિશ્ચય સમ્યગ્દર્શનની અનુભૂતિ આવે અને જાય, પછીના ગુણસ્થાને તે સ્થિર થાય છે.

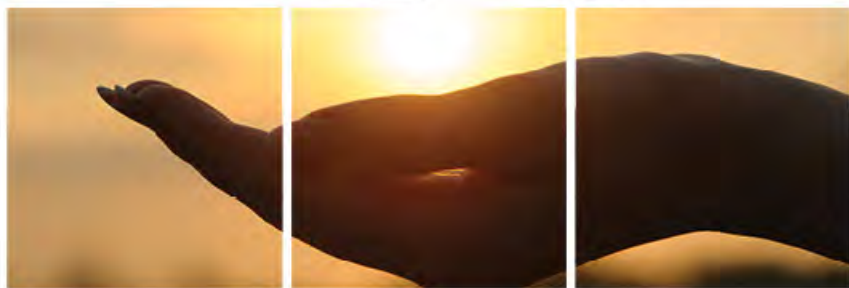
વ્યવહાર સમ્યગ્દર્શન = શ્રદ્ધા, જોવું, આત્મજાગૃતિ થવી.

નિશ્ચય સમ્યગ્દર્શન = સમ્યક્ જોવું, સમ્યગ્ભાન થવું, સમ્યગ્જાગૃતિ થવી વગેરે.

(હસ્તાક્ષરનું અક્ષયપાત્ર  
ભાગ - 27, પેજ નં. 4-5)



# स्वानुभूति



आचार्य यशोविजयसूरि



**तारक छाया**

श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ दादा

श्री झींझुवाडामंडन शांतिनाथ दादा

**दिव्य आशिष**

पूज्यपाद, वचनसिद्ध युगपुरुष आ.भ. श्रीमद्विजय सिद्धिसूरीश्वरजी महाराजा

पूज्यपाद, निःस्पृहशिरोमणि मुनिप्रवरश्री विनयविजयजी महाराजा

पूज्यपाद, भक्तियोगाचार्य, संयमैकदृष्टि आ.भ. श्रीमद्विजय भद्रसूरीश्वरजी महाराजा

पूज्यपाद, विद्वद्भर्य मुनिप्रवरश्री जनकविजयजी महाराजा

पूज्यपाद, संयमैकनिष्ठ मुनिप्रवरश्री ह्रींकारविजयजी महाराजा

पूज्यपाद, तपस्विरत्न मुनिप्रवरश्री विलासविजयजी महाराजा

पूज्यपाद, शासनधुरीण आचार्य भगवंत श्रीमद्विजय ॐकारसूरीश्वरजी महाराजा

पूज्यपाद, वर्धमानतपोनिधि आचार्य भगवंत श्रीमद्विजय भद्रंकरसूरीश्वरजी महाराजा

पूज्यपाद, प्रशान्तमूर्ति आचार्य भगवंत श्रीमद्विजय अरविन्दसूरीश्वरजी महाराजा

पूज्यपाद, आगमप्रज्ञ श्रुतस्थविर प्रवर्तक मुनिप्रवरश्री जंबूविजयजी महाराजा

पूज्यपाद, आराधनारत मुनिराजश्री जिनचन्द्रविजयजी महाराजा (पिताजी महाराज)

पू. साध्वीजी कल्पलताश्रीजी महाराज (मातुश्री महाराज)

## प्राप्तिस्थान

आचार्यश्री ॐकारसूरि ज्ञानमंदिर ग्रंथावलि... 142-A

प्रकाशक : आचार्यश्री ॐकारसूरि आराधना भवन, गोपीपुरा, सूरत

प्रकाशन वर्ष : वि.सं. २०७६ • नकल : 1500 • मूल्य : ₹50 • हिन्दी आवृत्ति : प्रथम

आचार्यश्री ॐकारसूरि आराधना भवन, गोपीपुरा, सूरत

सेवंतीलाल अ. महेता मो. 98241 52727

आचार्य श्री ॐकारसूरि आराधना भवन, पालडी, अहमदाबाद.

सुरेशभाई के. महेता, फोन : 26580053 मो. 94293 55953

ऊर्जातीर्थ (श्री विजयभद्र चेरीटेबल ट्रस्ट), भीलडीयाजी (ब.कां.),

गुजरात. फोन : (2744) 233129

जीगर धीरुभाई वडेचा, बांद्रा, मुंबई. फोन : 9820575677

उमेशभाई गाला, माटुंगा, मुंबई. फोन : (022) 24149600

मल्टी ग्राफिक्स, मुंबई. फोन : (022) 23884222 / 8080806736



# अनुक्रमणिका



स्वानुभूति का अरुणोदय | 1



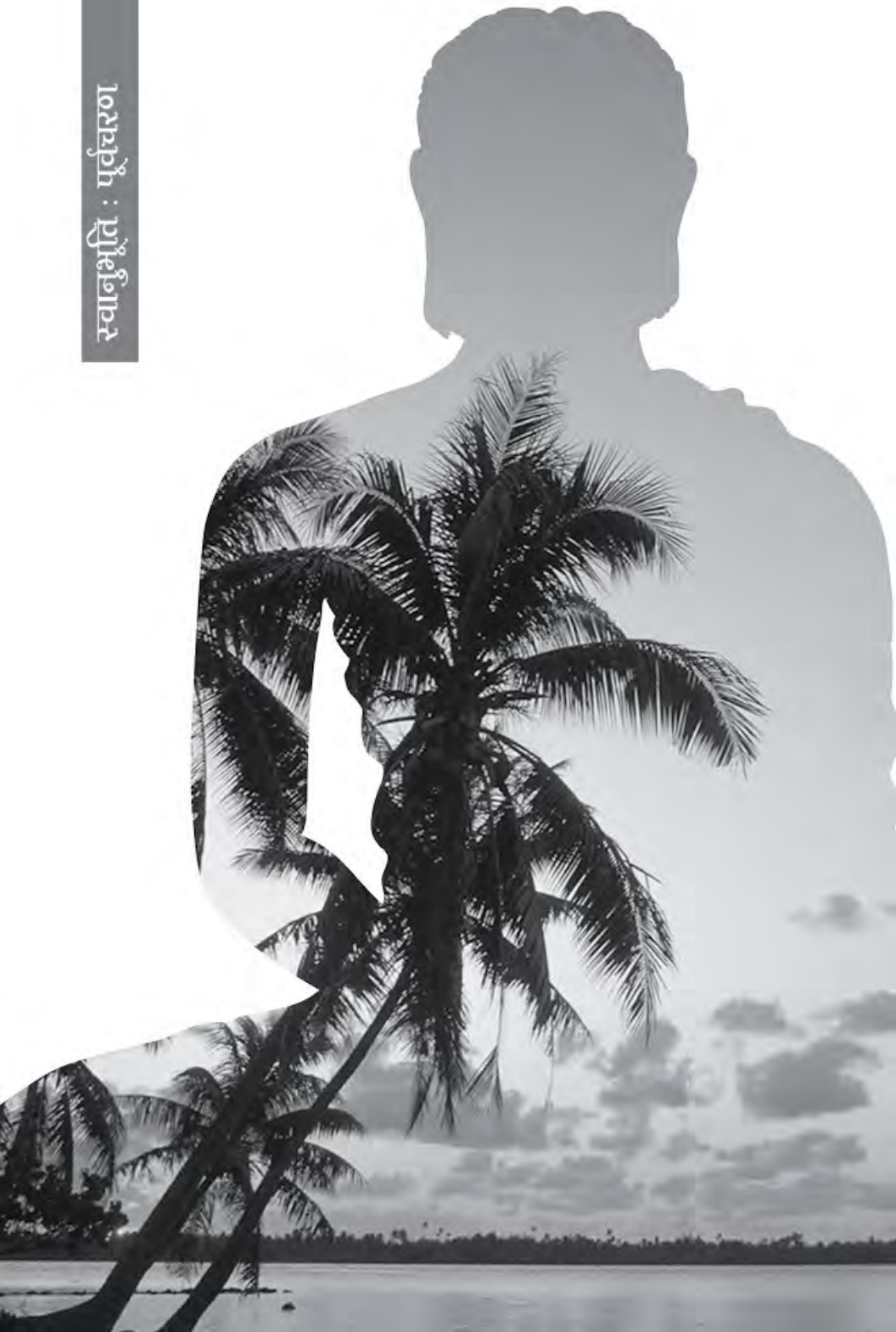
स्वानुभूति का सूर्योदय | 17



स्वानुभूति का मध्याह्न | 37

परिशिष्ट : स्वानुभूति में प्रवेश एवं स्थिरता हेतु विशेष पठन सामग्री | 54

स्वानुभूति : पूर्वचरण



# 1 स्वानुभूति का अरुणोदय

सूर्योदय से ठीक पहले के काल को अरुणोदय कहते हैं। उस समय एक दिव्य उजाला फैल जाता है जो सूर्य के आगमन की सूचना देता है, सुरीली टेर गाता है।

‘मेरे भीतर अध्यात्म का, स्वानुभूति का सूर्य उदित हो चुका है’ पूज्य रामविजयजी महाराज द्वारा अनुभव की गई दिव्य अभिव्यक्ति के पूर्व की क्षण ही आन्तरिक अरुणोदय है।<sup>1</sup>

अरुणोदय, सूर्योदय तथा सूर्य का मध्याकाश में आना; इन तीन अवस्थाओं को हम इस प्रकार समझेंगे :

स्वानुभूति : पूर्व चरण (अरुणोदय)

स्वानुभूति : मध्य चरण (सूर्योदय)

स्वानुभूति : उत्तर चरण (मध्याह्न)

आइए, क्रमशः इन तीन चरणों की भाव यात्रा करें।



1. अध्यात्म रवि ऊग्यो मुझ घट...- शान्ति जिन स्तवना

स्वानुभूति के पूर्व चरण में साधक के हृदय में एक हल्का सा प्रकाश उठता है, “मैं कौन हूँ? कौन हूँ? कौन हूँ मैं?”

फिर निषेधात्मक लय में साधक को इसका बहुत ही सुन्दर उत्तर मिलता है,

‘देह मन वचन पुद्गल थकी,  
कर्मथी भिन्न तुझ रूप रे...’<sup>1</sup>

साधक के स्तर पर इसका अनुवाद कुछ इस प्रकार होगा :

मैं देह से पृथक हूँ,

मैं मन से अलग हूँ,

मैं शब्द से भिन्न हूँ,

मैं पुद्गल से अलग हूँ,

मैं कर्म से भिन्न संघटना हूँ।

यह बात सतत पुनरावर्तित करें,

I’m a bodiless experience.

I’m a mindless experience.

I’m a speechless experience.

ये भेदज्ञान के सूत्र हैं।



‘मैं शरीर नहीं हूँ’ यह विचार आपको देहाध्यास से परे ले जाता है।

शरीर और नाम के सम्मिश्रण पर “मैं” की परत चढ़ा दी गई। इसका क्या परिणाम आया? परिणाम यह, कि राग, द्वेष और अहंकार की परम्परा शुरू हो गई।

1. अमृतवेलनी सज्जाय; महो. यशोविजयजी





“मुझे उसने अच्छा कहा!”... बस, अहंकार शुरू!! जो व्यक्ति हमारी तारीफ़ करे, वह हमें अच्छा लगने लगता है, बाकी सब बुरे...!!

किन्तु यदि इस “मैं” को ही बदल दिया जाए, तो कितनी बुराइयाँ स्वतः ही खत्म हो जाए।

“मैं” अर्थात् आनन्दधन चैतन्य। आनन्द का निर्मल झरना सतत मुझमें बह रहा है। अब यदि कोई गालियों की बारिश भी कर दे तो भी इस “मैं” को कोई फ़र्क नहीं पड़ने वाला।

‘समाधि शतक’ में कहा है, “देखे सो चेतन नहीं, चेतन नाहि देखाय; रोष तोष किनसुं करे, आप हि आप बुझाया।”

गाली देने वाला कौन है? क्या वह चैतन्य तत्त्व है?

आप जिसे देखते हैं, वह चैतन्य नहीं है; चैतन्य तों अदृश्य है, तो फिर गुस्सा किसके प्रति?

बस, इस विचार मात्र से क्रोध समाप्त!!



अब यक्ष प्रश्न यह है कि इस “मैं” को किस प्रकार बदला जाए?

यथार्थ में तो यह बहुत आसान है।

स्वामी राम अपने शरीर के लिए “राम” शब्द का प्रयोग करते थे; और अपने निर्मल चैतन्य, अर्थात् आत्मा के लिए “मैं” शब्द का इस्तेमाल करते थे।

एक बार वे हँसते-हँसते बाहर से आश्रम में आए। किसी ने पूछा, “क्या हुआ ?” तो वे बोले, “आज तो मज़ा आ गया। एक भाई राम को गाली दे रहा था, मैं देख रहा था।”

उन्होंने एक त्रिकोण निर्मित किया। पहला गाली देने वाला, दूसरा जिसने गाली खाई, और तीसरा, यह दृश्य देखने वाला।

आप मात्र द्रष्टा हैं।

गाली तो शरीर खा रहा है, और आप देख रहे हैं।

एक प्रयोग करते हैं, आप खाना खाने बैठो। अपने मन को अपने पसन्द के किसी स्तवन में लीन कर दो। अब हाथ में खाने का कौर लिया, वह सीधे मुँह में ही जाएगा, और कहीं नहीं, मैं गारंटी देता हूँ। शरीर स्वतः अपना कार्य कर ही लेगा, अब आपको भोजन की इस क्रिया में हाज़िर रहने की क्या आवश्यकता है?

पूज्यपाद आचार्य भगवन्त प्रेमसूरि दादा एक बार गोचरी के लिए पधारे। लगभग पचास मुनि साथ में थे। गुरुदेव के मन में एक विचार आया, कि मेरे ये सभी शिष्य त्यागी और वैरागी तो हैं, किन्तु कहीं इनमें भोजन के प्रति कोई आसक्ति न आए!

सभी महात्मा गोचरी शुरू करते, उससे पहले उन्होंने एक प्रश्न किया। वह कर्मशास्त्र का एक जटिल प्रश्न था। दादा बोले, “मुझे यह देखना है, कि इस प्रश्न का उत्तर सबसे पहले कौन देता है?”

अब सभी मुनिवर गोचरी अवश्य कर रहे थे, उनका शरीर आहार ग्रहण कर रहा था, किन्तु मन तो उस प्रश्न का समाधान खोजने में लगा था, रोटी-सब्जी में नहीं।

गोचरी के बाद एक मुनिवर ने गुरुदेव के पास आकर उस प्रश्न का उत्तर दिया। उसका उत्तर सही था। गुरुदेव ने उसे आशिष दिए। किन्तु मन ही मन गुरुदेव प्रसन्न थे। उन्होंने विचार किया, कि जिन्होंने उत्तर नहीं दिया वे भी मेरी परीक्षा में उत्तीर्ण ही हुए हैं, क्योंकि मेरा उद्देश्य तो यह था भोजन में राग उत्पन्न न हो।



भेदज्ञान का अभ्यास जितना गहरा होगा, उतनी ही तीव्र गति से आनन्दधनता की दिशा में कदम बढ़ेंगे।

शास्त्रों में कहा है कि, “जितने महापुरुष सिद्धिपद को प्राप्त कर चुके हैं, उनकी मुक्ति का कारण भेदज्ञान का अभ्यास है।”<sup>1</sup>

अर्थात् भेदज्ञानाभ्यास से जो आन्तरिक यात्रा प्रारम्भ होती है, वह स्वानुभूति के शिखर, अर्थात् मोक्ष तक पहुँचाती है।



1. ये यावन्तो ध्वस्तबन्धा अभूवन्, भेदज्ञानाभ्यास एवात्र बीजम्॥ - अध्यात्मविन्दु

भेदज्ञान के अभ्यास का प्रारम्भ भले ही इस अनुप्रेक्षा से होता है कि, “मैं सबसे भिन्न हूँ... भिन्न हूँ।” किन्तु धीरे-धीरे यह अनुप्रेक्षा, अनुभूति की तरफ़ जानी चाहिए। मात्र अनुप्रेक्षा तक ही सीमित रहे तो नहीं चलेगा।

इस अनुप्रेक्षा को अनुभूति में रूपान्तरित करने के लिए ही बाईस परिषह बताए गए हैं। ठण्डी सहन होगी, गर्मी सहन होगी, रोग भी आएँगे, किन्तु इन सबका मन पर कोई असर नहीं होगा, मन सहज रूप से चलता रहेगा।

इसी सन्दर्भ में पूज्य पद्मविजयजी महाराज ने कहा है कि,

**परिषह सहनादिक परकारा, यह सब है व्यवहारा;  
निश्चय निज गुण ठरण उदारा, लहत उत्तम भवपारा।**

अर्थात् परिषहों को सहन करने की व्यवहार साधना, निज गुण स्थिरता रूपी निश्चय साधना में रूपान्तरित होती है।

अब भीतर डुबकी लगाते हुए बीच में आने वाले रोग, या ठण्डी-गर्मी, या मच्छर आदि कोई भी घटना अवरोध नहीं लगे।

देहाध्यास शिथिल बना।

साधना में आने वाले बड़े अवरोध भी तुच्छ बने।

देहाध्यास की शिथिलता से ही “मैं अर्थात् शुद्ध चैतन्य” की लय बंधेगी।

जब “मैं” बदल जाता है तब यह अनुभव हो जाता है, कि गुण ही मेरे हैं, राग-द्वेष आदि तो विभाव हैं। और फिर स्व-गुणों में टहलने की मस्ती प्रारम्भ हो जाती है।

भगवान उमास्वातिजी ने इसी लय को समझाते हुए कहा कि, “प्रभु के मार्ग (निश्चय) से च्युत न हो, और कर्मों की निर्जरा हो इसलिए परिषह सहन करना है।”<sup>2</sup>



शुरूआत में साधक परिषहों को सहन करता है, किन्तु बाद में उनका आनन्द लेता है, और फिर वह ऐसी स्थिति में रूपान्तरित हो जाता है कि वे परिषह साधक को एक घटना के समान लगते हैं, जिसे साधक मात्र द्रष्टा बनकर देखता है।

2. मार्गाच्यवन-निर्जरार्थ परिषोढव्याः परिषहाः। -तत्त्वार्थ

पवित्र उत्तराध्ययन सूत्र के परिषद् अध्ययन में एक मुनि का ऐसा ही द्रष्टाभाव बताया गया है, कि कोई तलवार से शरीर को नष्ट करे, तो भी क्या फर्क पड़ने वाला है? आत्मा तो अमर ही है न!

यह द्रष्टाभाव साधक को जीवो के प्रति द्वेष तथा अहंकार (देखा! मैंने उपसर्ग सहन किए!) आदि से ऊपर उठाता है।



भेदज्ञानाभ्यास...

इस अभ्यास को गहराई, और अधिक गहराई में उतारो, ताकि जन्मोजन्म का भ्रम कि, “मैं शरीर हूँ”, यह सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाए।

यह भ्रम नष्ट होने के बाद साधक की भाषा भी बदल जाती है। वह यह बात कभी भी नहीं कहेगा, कि मुझे बुखार है, बल्कि वह यह कहेगा कि शरीर को बुखार आया है।

पूज्य धर्मधुरन्धरसूरि महाराज को गले का कैंसर हुआ। मैं साहेबजी की शाता पूछने गया। उनके चेहरे पर वही मुस्कान, वही आनन्द था जो पहले हुआ करता था।

मैंने शाता पूछी और कैंसर के प्रति मेरी चिन्ता व्यक्त की, तो साहेब बोले, “यशोविजय! तुम ऐसा बोल रहे हो? कैंसर तो शरीर को है, मुझे क्या? मैं तो निरवधि आनन्द के समुद्र में मग्न हूँ।”



यह भेदज्ञानाभ्यास, साधक की साधना को उस बिन्दु तक ले जाएगा, जिससे विभाव या ‘पर’ की ओर होने वाले किसी भी कार्य में उसका कर्तृत्व नहीं रहेगा। उसे यह चिन्तन सतत होता रहेगा : खाने की या बोलने की क्रिया शरीर करता है, विचार करने की प्रक्रिया मन करता है, मैं तो मात्र द्रष्टा हूँ।

इस प्रकार भेदज्ञानाभ्यास साधक को ‘पर’ के कर्तृत्व से मुक्ति प्रदान करेगा और साधक में रहेगा – मात्र द्रष्टाभाव।

। गन्धि जीवस्स णासोत्ति, एवं पेहेज्ज सज्ज।



अष्टावक्र ऋषि ने राजा जनक को दिया साधना-सूत्र याद आता है, “तू मात्र द्रष्टा है, इसलिए तू लगभग मुक्तदशा में है। तुझे कर्मबन्ध तब होगा जब तू “मैं” के रूप में शरीर आदि को देखेगा।”<sup>2</sup>

महोपाध्याय यशोविजयजी महाराज इसी सूत्र को इस प्रकार बताते हैं, “आत्मदर्शन हेतु इच्छुक साधक ज्ञान के द्वारा अन्तर्मुख बनता है। ऐसा अन्तर्मुख द्रष्टा, दृश्य को देखता मात्र है; इसलिए दृश्य के साथ इसका सम्बन्ध नहीं होता। यह द्रष्टाभाव ही उसका मोक्षमार्ग बनता है। और जो साधक भ्रमवश दृश्यों के साथ रागात्मक या द्वेषात्मक सम्बन्ध रखता है, तो वह उसका संसार मार्ग बनता है।”



वर्तमान पड़ाव पर साधक का दृष्टाभाव प्रारम्भिक कक्षा में अवश्य है, किन्तु जब यह अपनी ऊँचाई प्राप्त करेगा तब द्रष्टा और दृश्य के मध्य कोई सम्बन्ध नहीं बचेगा।

जिस समय द्रष्टा का जुड़ाव और झुकाव दृश्य-जगत से हटेगा, उसी समय से उस दृश्य-जगत, अर्थात् बाह्य जगत उसके लिए पराया हो जाएगा।

सन्त निसर्गदत्तजी से किसी जिज्ञासु ने पूछा, “आप अन्तःप्रतिष्ठित हैं, और हम बाह्य जगत में! बाहर से अन्दर आने का मार्ग क्या है?”<sup>4</sup>

निसर्गदत्तजी बोले, “बाहर जैसा कुछ है ही नहीं, फिर मार्ग की बात ही कहाँ है?”

ऋषि अष्टावक्र इसी लय में कहते हैं :

आत्मनो दर्शनं तस्य, यद् दृष्टमवलम्बते।

धीरास्तु तं न पश्यन्ति, पश्यन्त्यात्मानमव्ययम्॥

जो बाह्य दृश्य देखता है, उसे आत्मदर्शन कहाँ है? साधक दृश्य नहीं देखता, वह तो अमर तत्त्व देखता है।



2. एको द्रष्टासि सर्वस्य, मुक्तप्रायोसि सर्वदा।

अयमेव हि ते बन्धो, द्रष्टारं पश्यसीतरम्॥ - अष्टावक्र गीता

3. तेनात्मदर्शनाकांक्षी, ज्ञानेनान्तर्मुखो भवेत्।

द्रष्टृदृग्गात्मता मुक्तिः, दृश्यैकात्म्यं भवभ्रमः॥ - अध्यात्मोपनिषद्.

4. I am that - by Nisargadattaji

द्रष्टाभाव...

मात्र देखना है...

अन्य सन्दर्भ में कहें, तो मात्र वर्तमान में रहने का अभ्यास करना है।

विचारों का प्रवाह आपको या तो भूतकाल में ले जाता है, या फिर भविष्य में। वर्तमान काल में स्वयं को उदासीनभाव में स्थित करने में विचारों का कोई प्रयोजन नहीं होता।

इसलिए विचार नहीं, मात्र आप हो - यह अवस्था ही द्रष्टाभाव है, यह दशा ही वर्तमान योग है।

द्रष्टाभाव का अभ्यास...

उन क्षणों में आप घटनाओं को देखते हैं, जानते हैं, किन्तु वह घटना अच्छी है या खराब, ऐसा कोई विचार आपके मन में लेश मात्र भी नहीं आता।

अपनी कल्पनाओं को लगाम लगाते हुए, जो घटना जैसी है, उसे वैसी ही देखना; यही द्रष्टाभाव का अभ्यास है।

आपके अहंकार को पुष्ट करने वाले शब्द आपको अच्छे लगते हैं, और अहंकार को तोड़ें वे शब्द खराब लगते हैं। अरे भाई! शब्द तो शब्द हैं, उस पर पसन्द और नापसन्द का स्टीकर क्यों चिपका रहे हैं?

शब्द तो पौद्गलिक संघटना है, और आप चैतन्यमूर्ति हैं। आपके और पौद्गलिक घटना के मध्य कैसा सम्बन्ध?



घटनाओं में ऐसा क्या है?

ज्ञानियों को तो आश्चर्य होता है कि आप घटनाओं से प्रभावित होते ही क्यों हैं?

रमण महर्षि से पूछा गया कि, “आप जहाँ भी जाते हैं, वहाँ लोग आप पर फूलों के हारों का ढेर लगा देते हैं, आपको कैसा लगता है?”

तो महर्षि मुस्कुराए, और बोले, “भगवान का रथ खींचने वाले बैल को भी लोग फूलों के हार पहनाते हैं, उससे क्या होता है? उस बैल का भार बढ़ता है, और कुछ नहीं।”



निर्विचार होकर किसी भी चीज का यथार्थ, निर्भ्रान्त दर्शन ही द्रष्टाभाव है।

द्रष्टाभाव का अभ्यास जितना अधिक, आन्तरयात्रा की गति भी उतनी ही तीव्र। विकल्पों का वेग शिथिल होने के कारण कर्मबन्ध भी उतना बलशाली नहीं होता जितना पहले होता था।

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज कहते हैं, “तुम्हारा मन जितना अधिक निर्विकल्प होगा, उतना ही अल्प कर्मबन्ध होगा।”<sup>1</sup>



साधक के मन में एक प्रश्न बार-बार उठता है, कि निर्विचार / निर्विकल्प बनना तो साध्य है, क्योंकि तभी द्रष्टाभाव का अभ्यास आगे बढ़ेगा। किन्तु निर्विचार बने कैसे?

(राग, द्वेष और अहंकारयुक्त विचार को विकल्प कहा जाता है, सहज जिज्ञासा से उठे विचार को विचार ही कहते हैं।

यथा, कोई अनजान व्यक्ति यदि आपके कक्ष में प्रवेश करे तो आपको एक सहज जिज्ञासा होगी कि, “यह कौन है?”

किन्तु यदि कोई ऐसा व्यक्ति आपके कक्ष में प्रवेश करे जिसके प्रति आपको तिरस्कार है, तो यदि आपकी जागृति मन्द है तो वह तिरस्कारभाव प्रबल और प्रकट हो जाएगा; यही विकल्प है।)

निर्विकल्प बनने के ये उपाय हैं :

## १. विचारों या विकल्पों को देखें, उसमें लिप्त न हों।

विकल्पों में लिप्त होने का आशय है कि उनके प्रभाव में आना; और विकल्पों को देखने का अर्थ है कि उन विकल्पों के कारण मन में कोई राग, द्वेष या अहंकार उत्पन्न न हो।

पर्वत या जंगल में जब आग लगती है, तो २०-२५ किलोमीटर दूर से वह दिखाई अवश्य देती है, किन्तु देखने वाले को उसकी गर्मी का असर नहीं दिखता। किन्तु आग के एकदम निकट बैठे व्यक्ति को उसका असर स्पष्ट दिखाई देता है।

1. निर्विकल्प उपयोगमां, नहि कर्मनो चारो - सवासो गाथानुं स्तवन

विकल्पों को देखने वाले की मनःस्थिति यह होती है, विकल्प “विकल्प” हैं, और मैं “मैं” हूँ। विकल्प मन से उत्पन्न हो रहे हैं, और “मैं” मन से ऊपर उठ चुका चैतन्य अस्तित्व हूँ।

आप चाय पी रहे हैं, (नहीं, आपका शरीर चाय पी रहा है।) चाय अच्छी बनी है, अब आपका संज्ञाप्रभावित मन आसक्ति की धारा में बहेगा, किन्तु “मुझे आसक्ति में नहीं बहना चाहिए” – यह विचार जिसे आता है वही आप हैं। यही है द्रष्टा बनने की प्रक्रिया।

अर्थात् यदि आप आसक्ति की धारा में बहे, तो इसे विकल्पों में ‘लिप्त’ होना कहेंगे। और यदि आप इस आसक्ति को मात्र देखने वाले बने, तो आप ‘द्रष्टा’ हुए।



पू. चिदानन्दजी महाराज ने रूपस्थ ध्यान की बात कहते हुए कहा है:

‘रहत विकार स्वरूप निहारी, ताकि संगत मनसा धारी;  
निज गुण अंश लहे जब कोय, प्रथम भेद (रूपस्थ) तिणि अवसर होय।’

भीतर राग या द्वेष ने अपना सिर उठाया, आप उसे देखिए; अहंकार उत्पन्न हुआ, तो उसे भी देखिए, मात्र देखना है। पर कैसे? एक अनजान या तटस्थ व्यक्ति किसी अन्य के राग, द्वेष या अहंकार को कैसे देखता है? वैसे ही देखिए। आपके भीतर राग, द्वेष आदि उत्पन्न हुए, उसे देखिए, मात्र देखते रहिए... आपको द्रष्टाभाव मिल जाएगा।

उस समय आसक्ति आदि के विचार आपके लिए दृश्य बन जाएँगे, और आप द्रष्टा। दृश्य और द्रष्टा तो अलग-अलग ही रहेंगे। मेरे सामने अभी टेबल, पुस्तक, पेन सब कुछ पड़ा है, मैं इनका इस्तेमाल भी कर रहा हूँ। किन्तु ये सब मेरे लिए दृश्य हैं, और मैं द्रष्टा हूँ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार सूत्र में कहा है कि, “क्रोध को क्रोध आता है, मुझे इससे क्या लेना-देना?”<sup>1</sup>

तो, आप विचारों को देखते हैं, उनसे जुड़ते नहीं। इस कारण विकल्पों से आपका सम्बन्ध विच्छेद होता जाता है और परिणामस्वरूप आप निर्विकल्पता की दिशा में आगे बढ़ते हैं।

1. कोहे कोहो। - समयसार सूत्र



२. विचारों का प्रवाह चालू हो तो छोटे से मन्त्र का भाष्य जाप कीजिए (थोड़े जोर से उच्चारण करके, Little Loudly)।

भाष्य जाप में “नमो अरिहंताणं” पद प्रयुक्त कीजिए। इससे आपके विचारों की गति को लगाम लगेगी। अत्यन्त मजेदार है यह पद।

३. दस मिनट चित्त को शान्त करके बैठिए, शरीर स्थिर रखिए और आँखें बन्द।

आपको मात्र शान्त-चित्त होकर बैठना है। यदि विचार आ भी गए, तो वे दिखेंगे किन्तु आप शान्त-चित्त बैठे रहिए।

प्रारम्भ में १०-१० मिनट की बैठक रखें। दिन में तीन या चार बार कीजिए, किन्तु नियमित रहना जरूरी है।

एकाध महीने में आपको अनुभव होना शुरू हो जाएगा कि जब मन में गुस्सा आया, उस समय यदि आप शान्त मुद्रा में बैठेंगे तो गुस्सा तुरन्त ही ठण्डा पड़ जाएगा।

आपको अपने आवेगों को ‘ऑफ़’ करने की ‘स्विच’ मिल जाएगी।

४. जैसे कांटे से कांटा निकलता है, वैसे ही विचारों से विचार को निकाल दीजिए।

क्या विकल्प उपयोगी हैं? यदि नहीं, तो साधक उस पर अपना श्रम और समय क्यों व्यय करे?

विचार करना मन का कार्य है, आपका कार्य है देखना।

यदि शुभ-विचार आते हैं और इस कारण आपकी साधना में वृद्धि होती है तो उन विचारों के साथ चलें। किन्तु आपकी ‘मॉनिटरिंग सिस्टम’ मजबूत होनी चाहिए, जो आपके मन को अशुभ विचारों में जाने से रोके।



विचारों को मात्र देखना है...

विचार करने नहीं हैं। आपके विचार आपको राग-द्वेष की ओर ले जाएँ, इसकी अधिक सम्भावना है। विचार, मन की प्रक्रिया है; देखना और जानना आत्मा का स्वभाव है।



मात्र देखिए...

शान्त-चित्तपूर्वक बैठे रहिए ...

यह 'मात्र' / 'Only' शब्द बहुत कठिन है। साधना क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि भौतिक क्षेत्र में भी।

भौतिक क्षेत्र की बात तो वैज्ञानिक प्रमाणित करते ही हैं। उनके अनुसार आज का मनुष्य 'मात्र' एक कार्य नहीं करता। जब वह घर में बैठकर खाना खा रहा होता है, तब मात्र भोजन ही नहीं करता, ऑफिस की बातों पर विचार भी कर रहा होता है। शाम को ऑफिस से लौटकर जब घर आता है, तब उसका शरीर घर पर होता है, किन्तु मन में ऑफिस के विचार चलते हैं। इसीलिए घर पर होने के बाद भी खुले दिल से बच्चों से बात नहीं कर पाता। ऑफिस रहता है तो घर के बारे में विचार करता है। घर आता है, तो ऑफिस के विचार, यह चक्र चालू ही रहता है।

एक बुद्धिशाली साधक के रूप में जरा देखिए तो सही, कि ये विचार आपके लिए उपयोगी हैं कि नहीं ?



साधना-मार्ग में एक अद्भुत बात आती है, कि जब आप किसी शुभ क्रिया से जुड़े हुए हों, जैसे सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रभुभक्ति आदि, उस समय कोई अन्य शुभ क्रिया के विचार भी नहीं आने चाहिए। क्योंकि वे विचार आपकी अभी की शुभ क्रिया की तन्मयता को तोड़ेंगे।

किसी भी एक क्रिया पर तन्मयता आनी चाहिए। हमारी परम्परा साधना में एकाग्रता लाने हेतु कहती है।

जब आप किसी एक मन्त्र के जाप में तल्लीन होते हैं, तब आपका मन पूर्ण रूप से उसी मन्त्र पर स्थित हो जाता है। यह सम्पूर्णता / Totality महत्त्वपूर्ण है।

अब तक जो मन विभावों में रमण कर रहा था, अब वही मन शुभ योगों के प्रति समर्पित हो गया।

तथापि यह साधन एकाग्रता है। हमारे लिए आवश्यक है साध्य एकाग्रता, स्व-गुण या स्व-रूप में डूब जाए ऐसी एकाग्रता।



स्व में डूबे हुए व्यक्ति को पर में रुचि नहीं होती।

गौतम बुद्ध के जीवन की अनोखी घटना याद आती है। वे किसी शिलातल पर बैठे थे। मात्र बैठे थे - Just sitting, and nothing to do.

थोड़ी देर बाद दो भाई वहाँ पहुँचे। उनके घर का दरवाजा खुला रह गया था, और उनकी पागल बहन घर से भाग गई। दोनों भाई उसे ढूँढ रहे थे।

जहाँ तक धूल थी, वहाँ तक बहन के पैरों के निशान थे, बाद में पहाड़ चालू हो गया, तो वे नहीं समझ पाए कि बहन किस दिशा में गई होगी?

उन भाइयों ने वहाँ बैठे गौतम बुद्ध को देखा और पूछा, “कोई बहन यहाँ से निकली?”

बुद्ध ने उत्तर दिया, “परमाणुओं का एक समूह इधर से उधर गया अवश्य, किन्तु कौन था और कहाँ गया? यह नहीं पता।”



द्रष्टा की रुचि दृश्यों से अब पूर्णतया समाप्त हो चुकी है।

दृश्य में जो दिखाई देता है, वह अच्छा है या खराब; अब यह वर्गीकरण कौन करे?

प्रायः हम जिस समाज में रहते हैं, उस समाज की सोच को हम अपना लेते हैं। जैसे भारतीय व्यक्ति को सामान्यतः कड़क, मीठी चाय भाती है, जापान में रहने वाले लोग चाय में नमक डालकर पीते हैं। अब इनमें से अच्छी या खराब चाय कौनसी है, यह वर्गीकरण किसने किया?

समाज ने या व्यक्ति ने?

धर्मशास्त्र आपके व्यक्तित्व पर बल देता है। आपका मूल व्यक्तित्व तो द्रष्टा के रूप में ही है। आप जिस दिशा में जाएँगे, आपके लिए निरवधि आनन्द की अद्भुत पगडण्डी आँखें बिछाए खड़ी होगी।



भेदज्ञान का अभ्यास और निर्विकल्प बनकर द्रष्टाभाव का अभ्यास; ये अभ्यास यदि बार-बार किए जाएँ तो साधक के जीवन में स्वानुभूति का अरुणोदय हो सकता है।

अभ्यास, सतत अभ्यास, लगातार इसे घोंटते रहना है। शायद “मैं शरीर हूँ” या “मैं नाम हूँ” ऐसे विचार पुनः प्रवेश कर सकते हैं, किन्तु उसी समय तुरन्त जागृति भी आएगी, और ये विचार स्वतः आएँगे कि, “मैं चैतन्यमूर्ति हूँ”, “मैं आनन्दघन हूँ”।

दृश्यों के प्रति प्रीति या घृणा भी होगी, किन्तु तुरन्त ही यह जागृति भी आएँगी कि, “मैं तो द्रष्टा हूँ”, “विचार करना मेरा स्वभाव नहीं”।

बार-बार अभ्यास करके इसे पक्का कीजिए, सतत जागृति...!!





# 1. प्रयोग-सूत्र



1. भेदज्ञान के संस्कारों को दृढ़ करने के लिए प्रतिदिन सुबह १५ मिनट यह अनुप्रेक्षा करें :

मैं शरीर नहीं हूँ,  
मैं मन नहीं हूँ,  
मैं नाम नहीं हूँ,  
मैं इन सबसे भिन्न हूँ।

2. इस अनुप्रेक्षा से ऐसी जागृति प्राप्त होनी चाहिए, दिन-रात कभी भी यदि यह भ्रम हो, कि “मैं शरीर हूँ” या “मैं नाम हूँ” तो वह जागृति उसे रोके।



3. द्रष्टाभाव को दृढ़ करने के लिए निर्विकल्पता / निर्विचारता को पुष्ट करना होगा, और इस हेतु :

अ. भोजन ग्रहण करते समय या चाय पीते समय आसक्ति हो तो उसमें लिस नहीं होना है, आसक्ति के विचारों को देखें।

आ. यदि किसी निमित्त विशेष के कारण अधिक विचार आने लगें तो उसकी रोकथाम के लिए “नमो अरिहंताणं” का पांच मिनट के लिए भाष्य जाप करें (थोड़े तेज उच्चारण से, कि आवाज़ आपके कान तक पहुँचे)।

इ. दस मिनट शान्त-चित्त होकर बैठें। मात्र बैठना है, विचारों में लेश मात्र भी जुड़ना नहीं है। यह प्रक्रिया दिन में कम से कम पांच बार करें।

ई. विचारों से विचारों को निकालने का प्रयास करें। यह विचार करें कि विचार करने से क्या प्राप्त होगा? विचार तो व्यर्थ होते हैं, तो फिर इनमें समय और शक्ति का व्यय क्यों करना? पांच मिनट ऐसा विचार भी करें।

स्वानुभूति : मध्यचरण



## 2 स्वानुभूति का सूर्योदय

भीतरी आनन्द के आस्वाद की क्षणों में स्थित साधक की उन क्षणों के लिए कैसी अभिव्यक्ति होती है?

महोपाध्याय श्री मानविजयजी महाराज ने इस अभिव्यक्ति को शब्द-देह प्रदान किया, “कहिए अणचाख्यों पण अनुभव रसनो टाणो मळियो” – अगणित जन्मों में जो रस कभी-भी नहीं चखा, उस रस का स्वाद अब चखने को मिला।

भक्ति की भीगी क्षणों में हुई इस अनुभूति का कर्तृत्व प्रभु पर छोड़कर वे कहते हैं, “प्रभुनी महेरे ते रस चाख्यो, अंतरंग सुख पाय्यो; मानविजय वाचक इम जंपे, हुओ मुज मन काम्यो।”

अत्यन्त रोचक अभिव्यक्ति है, “प्रभुनी महेरे ते रस चाख्यो...” अर्थात् प्रभु की कृपा से उस रस का आस्वाद मिला।

प्रभु की कैसी अद्भुत कृपा बरसी? उसने ‘स्व’ का आनन्द-द्वार खोल दिया।

अब तक के अनगिनत जन्मों में मात्र ‘पर’ से तृप्त होने का भ्रम था। और यह चंचल मन एकविधता से त्रस्त होकर बार-बार ‘पर’ को बदल रहा था – कभी हवेली से हिमालय, तो कभी हिमालय से हवेली तक।

पर-पदार्थों से आज तक तृप्ति मिल सकी है? एक नया गीत आया, आपको सुनकर अच्छा लगा, अब वही गीत आप दो सौ या पांच सौ बार सुनो तो कैसा लगेगा?



राजा खाना खाने बैठे, मन्त्री भी साथ थे। भिण्डी की सब्जी राजा को बहुत पसन्द आई, तो राजा बोले, “सब्जी हो तो भिण्डी जैसी, बाकी सब बकवास है।”

तो मन्त्री बोले, “जी महाराज! भिण्डी की तो बात ही कुछ और है, यह तो सब्जियों में सम्राट है।”

रसोइए ने सुना, उसे लगा राजा को भिण्डी बहुत पसन्द है, इसलिए उसने सुबह, दोपहर, शाम हर समय भिण्डी बनानी चालू कर दी। सात दिन ऐसा ही चला, आठवें दिन राजा परेशान हो गया, थाली में भिण्डी की सब्जी देखकर गुस्से से चिल्लाया, “ये क्या चल रहा है, रोज भिण्डी? ये भी कोई सब्जी है, निहायत बकवास!!”

तो मन्त्री बोला, “जी महाराज! भिण्डी तो एकदम बकवास सब्जी होती है।”

सुनकर राजा बोला, “तुम उस दिन तो भिण्डी की बहुत तारीफ़ कर रहे थे। अब क्या हुआ?”

तो होशियार मन्त्री ने जवाब दिया, “महाराज! मैं आपका नौकर हूँ, भिण्डी का नहीं।”

कहीं आपकी हालत भी ऐसी तो नहीं? मन रूपी सम्राट कहता है, कि यह चीज़ अच्छी है तो आप भी कहते हैं कि हाँ! अच्छी है। कुछ दिन बाद मन कहता है, कि ये तो बेकार है, तो आप भी बेकार कहते हैं।

प्रभु कहते हैं कि, “अपने मन का मालिक तू खुद है। तू मन का दास नहीं, बल्कि स्वामी ही है, अपनी भीतरी शक्तियों का भी तू ही स्वामी है।”

प्रभु की एक अति-उत्तम भेट यह है, “वत्स! तू ‘पर’ से ‘स्व’ की ओर जा। ‘स्व’ की अनुभूति कर, और देख कि तू कैसे परम आनन्द का स्वामी है!!”

पूज्य मानविजय महाराज को यही रंग चढ़ा, “प्रभुनी महेरे ते रस चाख्यो, अंतरंग सुख पाम्यो...” ‘स्व’ की एक झलक मात्र की अनुभूति भी आन्तरिक आनन्द की संवेदना प्रकट करती है।

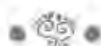




“मैं कौन हूँ” “मैं कौन हूँ” इस बिनौले का मक्खन ही स्वानुभूति है।

भीतरी आनन्द के आस्वाद की सामान्य दशा को स्वानुभूति का सूर्योदय कह सकते हैं, और विशिष्ट दशा को स्वानुभूति का मध्याह्न।

यहाँ हम स्वानुभूति की सामान्य दशा की बात करेंगे।



स्वरूप-दशा या स्व-गुणों की अनुभूति को स्वानुभूति कहते हैं।

स्वरूप-दशा कैसी है, इसे समझाते हुए पू. देवचन्द्रजी महाराज कहते हैं, “अमल अखंड अलिप्त स्वभाव ज सांभरे हो लाल ...।”<sup>1</sup>

आप अमल हैं, अखण्ड हैं, अलिप्त हैं।



आत्मा अमल है, निर्मल है।

राग, द्वेष और अहंकार रूपी मल कहाँ है? आपके संज्ञा-प्रभावित मन में। विकल्पों के जाल में फसकर मन राग तथा द्वेष करता है। किन्तु आप निर्मल हैं।

आप द्रष्टा के रूप में अपने आप को देखो, अनुभव करो। मन में यदि क्रोध उत्पन्न हुआ, तो उसे भी देखो।

आप निर्मल हैं।



सन्त हमेशा कुछ मजेदार प्रयोग करते रहते हैं। विनोबाजी निरहंकारी चेतना थे, दग्धबीज<sup>2</sup>; इसलिए वे अपनी देह के लिए “मैं” शब्द का प्रयोग नहीं करते थे। प्रथम पुरुष के स्थान पर तृतीय पुरुष में आ गए थे। प्रवचन में उनके मुख से ये शब्द निकलते थे, “आज सुबह बाबा ने ऐसा सोचा, कि...”

मैंने नहीं, उसने ऐसा विचार किया।



1. १ मुं स्तवन.

2. संत दग्धबीज होते हैं। राग, द्वेष, अहंकार के बीज को उन्होंने खत्म कर दिया है।

भक्त सदैव प्रभु के चरणों में रहता है, और शिष्य सद्गुरु के चरणों में।

समर्पण आया, और “मैं” गया।

समर्पण के तेज बहाव में “मैं” कहाँ टिकेगा?

समर्पण की महिमा निवृत्तिनाथ जी समझाते हैं। उनके कथनानुसार, “नौ वर्ष की आयु में मैं गुरु-चरणों में झुका। जब उठकर देखा तो मानो गुरुदेव ने मुझे आत्मविद्या दे दी हो, ऐसा अद्भुत आनन्द हिलोरे ले रहा था। आनन्दपूर्णता का अनुभव...” तुलना करते हुए वे कहते हैं, “जैसे खाली घड़े को नदी में डालें और वह घड़ा भर जाए, बस वैसा ही!!”



ऐसे प्रयोग करते रहने से अहंकार शिथिल बनता है। और इस शिथिलता की पृष्ठभूमि पर अमल दशा का अनुभव अधिक स्थिर होगा।

अष्टावक्र ऋषि की यह बात याद आती है:

**यस्यान्तः स्यादहङ्कारो, न करोति करोति सः।**

**निरहङ्कारधीरेण, न किञ्चिद्धि कृतं कृतम्॥**

जिस मनुष्य के हृदय में अहंकार है, वह कुछ न भी करे तो भी क्रियाशील है। निरहंकारी पुरुष कुछ करके भी अकर्ता है।

अहंकारी व्यक्ति कुछ न करके भी कुछ कर ही रहा होता है। वह अन्य को देखेगा, और यह विचार करेगा, “देखो इन लोगों को! कैसी निरर्थक प्रवृत्तियाँ कर रहे हैं। मुझे देखो! मैं कैसा शान्त बैठा हूँ।”

ज्ञानी पुरुष उसे देखकर कहेंगे, “भाई! तू शान्त हो, आँख बन्द करके अपने अन्दर झाँक।”

यह जटिल कार्य है। गुरुकृपा के बिना निरहंकारी बनना, अकर्ता बनना अत्यन्त दुष्कर है।

इस दोहे में बहुत अच्छी बात कही है :

दुधाहारी परधर चित्त, नागा चाहे लकड़ा नित्त;

मौनी करे मित्रकी आश, बिन गुरुगोदडी नहि बिस्वास।

कोई साधक मात्र दूध का आहार करता है, किन्तु यदि अहंकार नहीं छूटा तो वह क्या करेगा? वह तो रोज हिसाब लगाएगा, कि कनुभाई के यहाँ से कितना दूध आया? मनुभाई कितना दूध देकर गए? भगवान की माला गिनने के बजाय दूध की माला गिनेगा।

जो साधक नम्र, अर्थात् मात्र लंगोटी धारण करता है, उसे ठण्डी दूर करने के लिए लकड़ियाँ चाहिए, वह तो लकड़ी के जाल से ही उठ नहीं पाएगा।

तीसरा साधक मौन रखता है, किन्तु मौन मात्र बोलने में है, विचारों से नहीं। वह सोचता है कि यदि कोई मित्र आए, और आकर कुछ बातें-गप्पे सुनाकर जाए तो अच्छा।

गुरुकृपा के बिना साधना-मार्ग में न तो अहंकार से छुटकारा है और न ही कर्तृत्व से।



इसके विपरीत यदि निरहंकारी पुरुष कुछ कार्य करेगा तो भी उसका कर्तृत्व उसमें नहीं होगा। उसके द्वारा किया गया कार्य कर्तृत्वमुक्त कार्य होगा।



आपकी चेतना सर्वथा अखण्ड है।

ज्ञान-दर्शन के उपयोग की अखण्ड धारा आपके भीतर अनवरत बह रही है।

साधक की भूमिका में भी आप ज्ञाताभाव की धारा में लम्बे समय तक रह सकते हैं। ऐसे साधकों को मैं जानता हूँ, जिनका ज्ञाताभाव सतत चालू ही रहता है, या इस हेतु उनमें सतत जागृति रहती है।

ऐसे साधकों को स्थान या समय का भान कम रहता है, स्वभाव में स्थिरता की धारा निरन्तर बहती रहती है।

‘समाधिगतक’ में इस प्रकार के साधक की भावदशा बताते हुए कहा है, कि:

“देखे भाखे और करे, ज्ञानी सबही अचंभ।”

ऐसे योगीपुरुष को यदि कोई विनयपूर्वक कहे कि, “साहेबजी! भक्तगण आएँ तो आप स्मित के साथ उन्हें देखें तो अच्छा रहे।” तो विस्मयपूर्वक वे योगी कहेंगे, “अच्छा ऐसे देखना है? ठीक है, ऐसा ही सही।”

फिर उन्हें यह कहें कि, “साहेबजी! दो-चार शब्द धर्मोपदेश दें तो अच्छा रहे।” तो मौन की धारा में बहने वाले योगीपुरुष कहेंगे, “अच्छा ऐसे बोलना है? ठीक है, बोल देंगे।”

“साहेबजी! वासक्षेप दें तो ...।” “अच्छा! ठीक है...”

यह सब करने के उपरान्त भी उनकी ‘स्व’ की धारा निर्बाध रूप से चलती ही रहती है।

ऐसे साधक बाह्य रूप से कुछ क्रिया करते हुए दिखाई अवश्य देते हैं, किन्तु उनका कर्तृत्व नष्ट हो चुका होता है, मात्र being ही रहता है। बाह्य जगत के साथ उनका सम्बन्ध पूरा हो चुका जान पड़ता है।



ऐसे साधक की दशा का वर्णन करते हुए अष्टावक्र ऋषि कहते हैं :

**‘क्षिप्तः संसारवातेन, चेष्टते शुष्कपर्णवत्।’**

कर्मों का प्रवाह जब उदय में आता है, तब वह साधक को जिस परिस्थिति में डालता है, साधक उस परिस्थिति को स्वीकार करके उसमें रहता है। उसकी कोई प्रतिक्रिया या प्रतिभाव नहीं होता। कर्मवश रोग आए, तो रोग का स्वीकार, निरोगी काया हो तो उसका भी स्वीकार, साधक को कोई फर्क नहीं पड़ता।

बहुत रोचक उदाहरण दिया है, ‘चेष्टते शुष्कपर्णवत्’। हवा चलने से सूखा पत्ता सीधा गिरे या उल्टा, इसमें पत्ते की कोई प्रतिक्रिया या कर्तृत्व नहीं होता।

सूखे पत्ते जैसी मनःस्थिति एक साधक की होती है। जैसी भी परिस्थिति हो उसका सम्पूर्ण रूप से स्वीकार करना है।



हिमालय की एक छोटी सी गुफा में एक सन्त रहते थे। हिमालय में वैसे तो छोटी-बड़ी अनेक गुफाएँ हैं, किन्तु वह गुफा इतनी छोटी थी, कि वे पैर पसार कर सो भी नहीं सकते थे।

भक्त पूछते, “बाबा! इतनी संकड़ी गुफा में क्यों रहते हैं?”

बाबा कहते, “क्यों? बड़ी गुफा का क्या काम है? मैं और मेरे भगवान इस गुफा में आराम से समा जाते हैं, फिर तीसरे का क्या काम?”



एक साधक ने प्रश्न किया कि, “जायकभाव बहुत थोड़े समय ही रहता है, जैसे ही कोई घटना घटित होती है, तुरन्त धारा टूट जाती है।”

मैंने कहा कि, “किसी भी घटना में वह ताकत नहीं है कि आपकी धारा को तोड़ सके। उस घटना से जुड़े आपके विकल्प ही उस धारा को तोड़ते हैं।”

घटना, घटना है; आप, आप हैं। घटना दृश्य है, आप द्रष्टा हैं। आपके और घटना के मध्य सम्बन्ध बिटाने वाले कौन? मात्र विकल्प ही तो...!!

विकल्पों के द्रष्टा बन जाओ, आपका द्रष्टाभाव अखण्ड रहेगा।

एक साधक अपने घर में बैठकर सामायिक कर रहा है। उसे पता है कि उसे समभाव में रहना है। किन्तु उसके कमरे में ऐसे व्यक्ति ने प्रवेश किया जिसके प्रति उसे तिरस्कार है। उसे देखकर शायद तिरस्कार की धारा चालू हो जाए। किन्तु यदि उसी समय जागृति प्रकट हो और उसे यह लगे कि उसे तिरस्कार की धारा में नहीं, समभाव की धारा में बहना है। तो उस जागृति के कारण विकल्प दूर हो जाएँगे और समभाव की धारा जुड़ेगी।

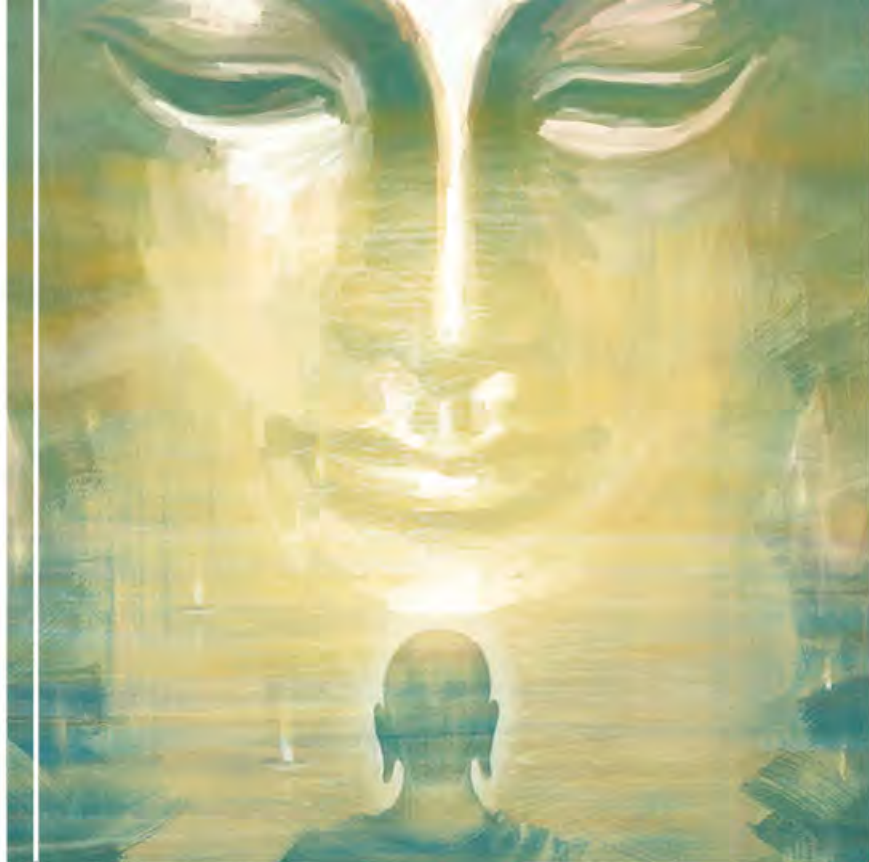
अभी चल रही शुभभावों की धारा को रोकने वाला कारण है - विकल्प। तो, विकल्प का त्याग करो और शुभ योगों में सतत बहते चलो।

मुझे साधक के लिए यह धारा अच्छी लगती है - शुभ योगों में सातत्य। अभी ही, कोई भी शुभ योग लीजिए और उसमें सतत बहते चलिए।

शुभ से शुद्ध की ओर जाने में देर नहीं लगती।

इस प्रक्रिया से एक बोध यह मिलेगा, कि आप अखण्ड चेतना हैं, आप खण्डों में विभक्त नहीं हैं, विकल्प ही आपको विभाजित करते हैं।





आपकी चेतना अलिप्त है।

कर्म के अणुओं से आप मुक्त हैं, आप अपने नैश्वयिक स्वरूप में हैं।

वर्तमान की धारा भी यदि देखें तो विकल्प जितने अल्प, उतना कर्मबन्ध भी अल्प।



वीतराग-दशा, आनन्दघनता और प्रशमरस आदि सभी आत्मा के गुण हैं।

इन गुणों की धारा में बहना ही आपका स्वभाव है। आपके नैश्वयिक स्वरूप में ये गुण पूर्णतया विकसित होते ही हैं।

यहाँ उन गुणों की आंशिक अनुभूति करके आप उस धारा को, पूर्ण गुणयुक्त धारा को पकड़ सकते हैं।





वैराग्य दशा को विकसित करके आप अपने वीतराग गुण की कल्पना कर सकते हैं।

वैराग्य... तीव्र प्रज्वलित वैराग्य!!

मुझे एक मुमुक्षु के जीवन की घटना याद आती है, वह ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए गुरु के पास गया।

उसने गुरु को वन्दन किया, और प्रार्थना की, “गुरुदेव! कृपा करके मुझे ब्रह्मविद्या प्रदान कीजिए।”

गुरु का आश्रम नगर के बाहर नदी किनारे पर था। गुरु ने मुमुक्षु को पूछा, “तू नगर से गुजरते हुए यहाँ तक आया है, पहले यह बता कि तूने रास्ते में क्या क्या देखा?”

मुमुक्षु बोला, “गुरुदेव! मैंने देखा, कि माटी के पुतले माटी के लिए दौड़ रहे थे।”

सुनकर गुरु को अच्छा लगा, और उन्होंने एक और प्रश्न किया, “अभी इस खण्ड में क्या चल रहा है?”

मुमुक्षु बोला, “गुरुदेव! माटी का एक पुतला गुरु से ज्ञान प्राप्ति की इच्छा लिए बैठा है।”

गुरु प्रसन्न हुए, उन्हें उसका वैराग्य परिपक्व लगा। फिर गुरु ने उसे ऐसी शिक्षा दी जिससे उसका वैराग्य पराकाष्ठा तक पहुँचा।



प्रभु की परम उदासीन दशा को देखकर भक्त स्वयं में उस वीतराग दशा को विकसित करने हेतु आगे बढ़ता है।

कैसी परम उदासीन दशा है प्रभु की!!

समवसरण हो, रत्नजडित सिंहासन हो या चौसठ इन्द्रों की भक्ति; यह सब सामने होते हुए भी प्रभु परम उदासीन दशा में लीन हैं।



इन गुणों का अनुभव...।

वीतराग दशा का अनुभव, आंशिक अनुभव प्राप्त होता है वैराग्य की पराकाष्ठा से और उदासीन दशा से।

उन क्षणों का अद्भुत आनन्द...।

पूज्य आनन्दधनजी महाराज उन क्षणों का वर्णन करते हुए कहते हैं, “अहो अहो हुं मुजने कहुं, नमो मुज नमो मुज रे; अमित फल दान दातारनी, जेहथी भेट थई तुज रे.”<sup>1</sup>

आनन्द की उन क्षणों में अपने आप को नमन करने का मन होता है। मैं कितना भाग्यशाली हूँ कि मुझे ऐसे परमात्मा मिले, जिन्होंने ‘स्व’ की दिशा में मेरे कदम बढ़ाएँ।

नवपद पूजा में भी उन क्षणों का वर्णन आता है, “तिहाँ आप रूपे सदा आप जुवे...” आप आनन्दधन के रूप में स्वयं को ही देखते हैं।



स्वयंसम्पूर्णता का बोध, अर्थात् जो भी है वह मेरे भीतर ही है, प्राप्त करने के लिए बाहर कुछ भी नहीं है। पूर्णता की दृष्टि का अपने भीतर विकास, “पूरन मन सवि पूरन दिसे, नहि दुविधा को लाग...”<sup>2</sup>

जब मन परिपूर्ण हो तो सब कुछ पूर्ण ही दिखता है, फिर कोई दुविधा नहीं होती, न कोई चिन्ता और न ही कोई पीड़ा।

स्थिरा-दृष्टि की सज्जाय में महोपाध्याय यशोविजयजी इस स्वयंसम्पूर्णता का वर्णन करते हुए कहते हैं, “चिदानन्दधन सुजस विलासी, किम होय जगनो आशी रे!”

ज्ञानरस और आनन्दरस में डूबा हुआ साधक ऐसा स्वयंसम्पूर्ण हो जाता है कि “उसे” अन्य किसी व्यक्ति या वस्तु की आकांक्षा ही नहीं रहती।

“उसे” शब्द का यहाँ साधक के चैतन्य स्वरूप से आशय है। लेकिन हाँ! उसके शरीर के लिए यथावश्यक चीजें वह अवश्य ग्रहण करता है।

1. शान्ति जिन स्तवन/सरखावो । भ्रहो अहं नमो महाम्... - अष्टावक्र गीता

2. महो. यशोविजयजी: ‘मेरे प्रभुसुं प्रगट्यो पूरन राग.’

आगे की दशा में जो स्वयंसम्पूर्णता आएगी, यहाँ उसकी बात नहीं कर रहे हैं। वैचारिक स्तर पर तथा आंशिक अनुभूति के स्तर पर उसे यह लगता है कि स्वयंसम्पूर्णता मेरे भीतर ही है।



भीतर का आनन्द...

इस आनन्द को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता, मात्र अनुभव के द्वारा ही इसका स्वाद चखा जा सकता है। पूज्य आनन्दधनजी महाराज इन शब्दों से याद आते हैं :

‘अनुभव गोचर वस्तुनो रे, जाणवो एही इलाज;  
कहन सुनन कछु नहि प्यारे, आनन्दधन महाराज.’

आनन्द के वे अगोचर पल, शब्दों के उस पार हैं, उन क्षणों का रसास्वादन कीजिए। ‘नाचे माचे मुगतिरस...’<sup>3</sup> मुक्ति के रस में नाचों, धूम मचाओ। बस, यही मोक्षमार्ग है।

ज्ञाताभाव या द्रष्टाभाव आ गया, फिर मोक्ष कहाँ दूर है?

प्रभु से प्रश्न किया गया, “प्रभु द्रष्टा को कोई कर्मबन्ध होता है?”

प्रभु ने उत्तर दिया, “द्रष्टा को कोई कर्म नहीं बन्धता।”<sup>4</sup>



जनक राजा से अष्टावक्र ऋषि ने कहा, “तू ध्यान या समाधि के कर्तृत्व को रखता है, यही तेरे कर्मबन्ध का मूल है।”<sup>5</sup>

ध्यान तो Being की क्षण है, फिर उसमें Doing कहाँ से आया?

वे जनक राजा को पूछते हैं, “तू कर्ता कहाँ हुआ? तू निःसंग है, निष्क्रिय है, स्व-प्रकाश है, और निरंजन वीतराग है तू।”



3. महो. यशोविजयजी : समाधिशतक

4. किमत्थि उवाही पासगस्स ?... णत्थित्तिबेमि-आचारांग सृत्र

5. निःसङ्गो निष्क्रियोऽसि त्वं, स्वप्रकाशो निरञ्जनः।

अयमेव हि ते बन्धः, समाधिमुत्तिष्ठसि॥

आप भी असंग / निःसंग हैं।

पूज्य देवचन्द्रजी महाराज अभिनन्दन प्रभु के स्तवन में कहते हैं, “भावे ते अन्य अव्याप्त”, अर्थात्, प्रत्येक पदार्थ का यह स्वभाव होता है, कि वह स्वयं में किसी और का प्रवेश नहीं होने देता।

धर्मास्तिकाय, कभी भी अधर्मास्तिकाय को अपने अन्दर प्रवेश नहीं करने देगा।

ठीक ऐसा ही गुणधर्म आत्मतत्त्व का भी है। ‘पर’ या जड़ को यह अपने अन्दर दाखिल नहीं होने देता। मात्र राग-द्वेष को अपना समझ कर आत्मा उसके और उसके कारण कर्म के संग में आती है।

आप असंग हैं।

ऋषि अष्टावक्र दूसरे श्लोक में कहते हैं, “न ते सङ्गोऽस्ति केनापि...” आपका किसी से संग नहीं है।



आप निष्क्रिय हैं।

हमारी शुद्ध दशा की ओर इशारा करते हुए पूज्य देवचन्द्रजी महाराज कहते हैं, “परम अक्रियता अमृत पीधुं।”<sup>1</sup>

परम अक्रियता...

न ‘पर’ की ओर सक्रियता है, न ही साधनामार्ग में सक्रियता है। मात्र स्वरूप-स्थिति है।

यद्यपि प्रारम्भ में साधक को ‘पर’ की ओर निष्क्रिय बनना है।

जो वृत्तियाँ राग-द्वेष की तरफ जा रही थी, उन्हें साधक वीतरागता की ओर धकेल देता है। यह वृत्तियों का ऊर्ध्वीकरण है।

भारतीय परम्परा में साधक के लिए एक मज्जेदार विशेषण प्रयुक्त हुआ है - “ऊर्ध्वरेतस्”।

साधक ऊर्ध्वरेतस् होता है, उसने अपनी शक्तियों का ऊर्ध्वीकरण किया होता है, निम्नगामिनी वृत्तियों को वह ऊर्ध्वगामी बना देता है।

1. २३मुं स्तवन.

‘पर’ की निष्क्रियता के बल पर जब आप सातवें गुणस्थानक के शिखर तक पहुँचते हैं, तब आप आंशिक रूप से निष्क्रिय होते हैं। क्योंकि आप वहाँ सतत ध्यानदशा में रहते हैं।

‘अध्यात्मसार’ ग्रन्थ में उन क्षणों की बात करते हुए महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज भगवद्गीता का एक श्लोक उद्धृत करते हुए कहते हैं :

यस्त्वात्मरतिरेव स्याद्, आत्मतृप्तश्च मानवः।

आत्मन्येव च सन्तुष्टः, तस्य कार्यं न विद्यते॥

अर्थात्, जो साधक आत्मरति, आत्मतृप्त तथा आत्मसन्तुष्ट है, उसे अब कोई कार्य करना बाकी नहीं रहा।

आत्मरति।

निर्मल आत्मदशा का जब आंशिक अनुभव होता है, तब साधक को आत्मतत्त्व पर अनुभूतिजन्य प्रीति उत्पन्न होती है। “अहो! मुझमें ऐसे गुण हैं!!” यह आत्मरति की अवस्था है।

अध्यात्मसार आत्मरति को इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ असम्बन्ध द्वारा, उन्मनीभाव के रूप में देखता है। इस दशा के बाद साधक की आत्मद्रव्य में ही रुचि रहती है।<sup>2</sup>

आत्मतृप्ति।

उदासीन दशा में जब वृद्धि होती है, तो उसके कारण गुणों की और स्वरूप की अनुभूति अधिक स्पष्ट और तीक्ष्ण बनती है, यही आत्मतृप्ति की दशा है।

आत्मसन्तुष्टि।

उदासीनदशा अधिक प्रगाढ़ हो और स्वानुभूति अधिक तीव्र हो तो इसे आत्मसन्तुष्टि की दशा कहेंगे।

यहाँ ध्यानदशा अधिक रहती है।

और वीतरागदशा प्रकट होते ही तो परम निष्क्रियदशा प्राप्त होती है।



2. ज्ञानयोगस्तपः शुद्ध-मात्मरत्येकलक्षणम्। इन्द्रियार्थोन्मनीभावात्, स मोक्षमुखसाधकः॥

आप स्व-प्रकाश हैं।

प्रकाश, अनुभूति आपके भीतर पहले से ही है। प्रभु के मीठे शब्दों के प्रति प्रीति से मोहनीय कर्मों का क्षयोपशम होते ही अनुभूति खुलकर अधिक स्पष्ट हो जाती है।

प्रभु के प्यारे वचनों के वाचन और श्रवण के द्वारा अनुप्रेक्षा होनी चाहिए, और यह अनुप्रेक्षा अनुभूति की ओर ले जाएगी।

प्रभु कहते हैं कि, “आत्मन्! तू आनन्दघन है।” इन शब्दों की अनुप्रेक्षा आपको आनन्दघनता की अनुभूति करवाती है।



आप निरंजन हैं।

कोई अंजन / दाग आपके भीतर नहीं है।

राग और द्वेष आपके ‘स्व’भाव नहीं हैं, ये तो ‘पर’ भाव हैं।

आप मात्र स्वयं में ही रहते हैं, निरंजन दशा मात्र वहीं हैं।



अष्टावक्र ऋषि राजा जनक से कहते हैं कि, “जब तू निष्क्रिय ही है, तो यह कर्तृत्व भाव तुझमें कहाँ से आया कि मैं ध्यान कर रहा हूँ, मैं समाधि में हूँ।

यह तो होने की प्रक्रिया है, करने की नहीं।”



सामान्य मनुष्य की यही मूल समस्या है, कि उसे अब तक कर्तृत्व भाव की पीड़ा समझ नहीं आई है। इसका क्या कारण है?

कार्य पूरा करने के बाद जो अहंकार रूपी तृप्ति (?) होती है, या तृप्ति का भ्रम होता है, उस तृप्ति के कारण वह उस कर्तृत्व को छोड़ नहीं पाता। उल्टे, उसे इसमें आनन्द नज़र आता है।

अब इसका उपाय क्या है?

एक बार, मात्र एक बार यदि Being का स्वाद चख लिया, तो निश्चित रूप से Doing का नशा उतर जाएगा।



प्रारम्भ में कार्य तो होंगे, किन्तु कर्तृत्व न रहने के कारण साधक को आनन्द आएगा। जैसे, वैयावच्च का कार्य होगा, और 'मैंने सेवा की' यह भाव नहीं, वरन् 'मुझे सेवा का लाभ मिला' यह भाव होगा तो वह वैयावच्च, कर्तृत्व-मुक्त कार्य हो जाएगा।

भगवद्गीता इस सन्दर्भ में कहती है, “सेवादधर्मः परमगहनो, योगिनामप्यगम्यः।” अर्थात् सेवा रूपी धर्म इतना गहन है कि योगियों को भी दुर्लभ है।

एक लोकप्रिय कहावत है, “नेकी कर, और दरिये में डाल”; अच्छे कार्य करके उसमें कर्तृत्व-भाव रखकर उसे निष्फल मत कीजिए।



कर्तृत्व-मुक्त कार्य करने की हमारी बहुत पुरानी परम्परा है।

राजा सम्प्रति पूर्व भव में भिखारी थे, भोजन के लिए यहाँ-वहाँ भटकते थे। एक बार किसी घर से गोचरी लेकर निकल रहे दो मुनिराज को देखकर उनसे भीख मांगी, “मुझे खाने को दीजिए।”

मुनिवर बोले, “हम तो भिक्षा लेने का कार्य करते हैं, किन्तु इस पर अधिकार तो हमारे गुरु भगवन्त का है।”

भिखारी उन मुनियों के साथ गुरु के पास गया और उनसे भोजन की याचना की। ज्ञानी गुरुदेव ने तुरन्त ही उसे दीक्षा दी और गोचरी करने के लिए बिठाया।

यह देखकर किसी भी शिष्य के मन में एक भी प्रश्न नहीं खड़ा हुआ, न दीक्षा को लेकर, न भिक्षा को लेकर। क्योंकि कर्तृत्वमुक्त कार्य था।

अरे! ऐसा समर्पण भाव था कि वहाँ बुद्धि और अहंकार के लिए कोई स्थान ही नहीं था।

कर्तृत्वमुक्त कार्य, यह उनके भीतर में स्थित समर्पण की धारा का परिचायक था।



मुझे उस श्रमण संघ और श्रावक संघ से ईर्ष्या होती है... कैसा अद्भुत समर्पण था उनका!!

किसी साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका के मन में यह विद्रोह नहीं कि जिसे

नवकार मन्त्र भी नहीं आता, उसे दीक्षा क्यों?

यह समर्पण-भाव कर्तृत्व को नष्ट कर देता है, फिर उस समर्पित व्यक्ति द्वारा किए गए कार्य गुरु या प्रभु के चरणों में भक्ति के रूप में समर्पित हो जाते हैं।



स्वानुभूति के सूर्योदय के ये पल...

आन्तरिक आनन्द की हल्की सी अनुभूति...

इसी आनन्द के अनुभव की बात महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज इस पद में करते हैं :

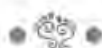
सुजस विलास जब प्रगटे आनंदरस, आनंद अक्षय खजाने;  
ऐसी दशा प्रगटे चित्त अंतर, सो ही आनंदघन पिछाने।<sup>1</sup>

सुयश विलास का तात्पर्य है - आत्मक्रीड़ा (अच्छे यश वाली आत्मा की क्रीड़ा)। इस आत्मक्रीड़ा से भीतर में रमण करने की प्रवृत्ति प्रकट होती है, और यह रमणता ही आनन्द की अनुभूति करवाती है।

मात्र भीतर ही जाना है...

छान्दोग्य उपनिषद् में भी एक मजेदार क्रम दिया है, “आत्मरतिः आत्मक्रीडः आत्मानन्दः स्वराट्।”

आत्मरति साधक, आत्मरमणता में आगे बढ़ता है, आत्मरमणता से आत्मानन्द मिलता है, और तब साधक स्वयंसम्पूर्णता अनुभव करता है। बस, अब बाहर से कुछ लेना भी नहीं, और देना भी नहीं।



आनन्द का एक नजदीकी पर्यायवाची शब्द उदासीनदशा है। न रतिभाव (हर्ष) का अतिरेक, न ही अरतिभाव की कमी। यदि स्वानुभूति में कुछ है, तो वह है भीतर के सागर का निश्चल और निःस्पन्द अस्तित्व।<sup>2</sup>

उदासीन दशा प्रारम्भ में अवश्य ही इतनी तीव्र नहीं होती, कभी हल्की होती है तो कभी हवा हो जाती है।

तथापि इसे प्रबल बनाने की पद्धति भी रोचक है।

एक क्षण उदासीनदशा में रहिए, दूसरा क्षण उसकी फोटोकॉपी ही तो है, फिर तीसरा, चौथा क्षण... और ऐसा सतत चलता रहेगा।

आपको एक क्षण तो ऐसी मिलेगी ही जिसमें राग, द्वेष, अहंकार आदि का प्रतिबिम्ब न हो। हमारी मात्र एक क्षण के प्रतिफल में प्रभु का कितना बड़ा वरदान!! उदासीन दशा की गंगा बह उठेगी!!



1. आनंदघन अष्टपदी

2. स्तिमितोदधिसन्निभः। - ज्ञानसार

उदासीन दशा...

कर्तृत्व गया, और साक्षीभाव प्रकट हुआ।

“स्व के सुख में डूबे और जगत के तत्त्व को देखने वाले साधक का कर्तृत्व भाव गायब हो जाता है। रहता है तो मात्र साक्षीभाव।”<sup>1</sup>

पर्यायों के अनवरत चलने वाले परिवर्तन के बीच वह अपने शाश्वत रूप को देखता है।

पर्याय तो बदलते ही रहेंगे, और आत्मद्रव्य सदैव स्थिर ही होता है। अब इसमें साधक को करना ही क्या रहा? पर्यायों के बदलाव को रोकना नहीं है, वे रोके भी नहीं जा सकते।

मात्र देखना है।



स्वानुभूति के सूर्योदय के समय स्वरूपदर्शन एवं स्वगुणदर्शन के अनुभव की एक अल्प झलक मिलती है।<sup>2</sup>

एक रोचक गुणस्पर्श का प्रारम्भ होता है। भीतर वीतराग दशा, परम आनन्द आदि जो भी गुण पहले से हैं, उनका आंशिक अनुभव होते ही विभावों से मुक्ति की घटना सहज रूप से चालू हो जाती है।



1. स्वभावसुखमग्नस्य, जगत्त्वावलोकितः।

कर्तृत्वं नान्यभावानां, साक्षित्वमवशिष्यते॥

2. आत्मज्ञान को अनुभव दरिसन, सरस सुधारस पीजिये;

- नवपदपूजा, पं. पद्मविजयजी

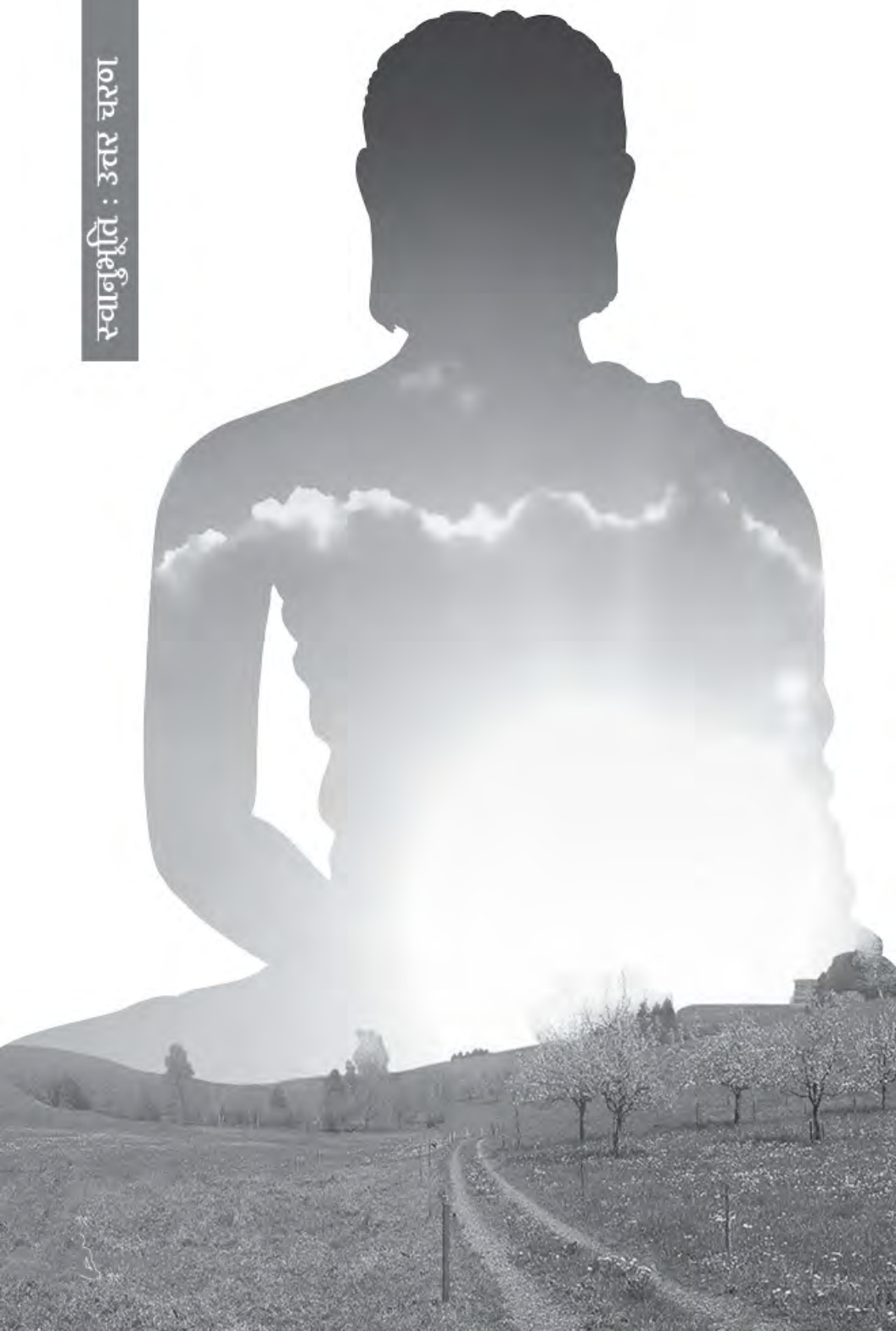
## 2. स्वानुभूति के सूर्योदय के समय की साधक की दशा



- मैं ज्ञान, आनन्द आदि से पूर्ण हूँ, यह प्रतीति चलती रहती है।
- “मैंने यह कहा था” या “मैंने यह किया” ऐसे वाक्य में भले ही “मैं” शब्द का प्रयोग हो, किन्तु यह शब्द बाह्य आशय से प्रयुक्त होता है। वास्तविक “मैं” तो शरीर, मन आदि से बहुत दूर की घटना है। बस ऐसा ही संवेदन चलता है।
- Being, अर्थात् ध्यान के प्रवाह में विहार होता है।
- शुभ कार्य होते रहते हैं, किन्तु उनमें कर्तृत्व भाव नहीं रहता।
- साधक वर्तमान-योग की धारा में बहता है, वहाँ न तो भूतकाल के विचार होते हैं और न ही भविष्य के। उदासीन भाव से वर्तमान की क्षणों में विचरण होता है।
- धीरे-धीरे वर्तमान योग का समय और गहराई बढ़ानी होती है।



स्वानुभूति : उत्तर चरण





# 3 [ स्वानुभूति का मध्याह्न

पू. चिदानन्दजी महाराज का एक पद है, “अवधू! निरपक्ष विरला कोई...” प्रारम्भ ही कितना मधुर है, “अवधू” शब्द से पद की शुरूआत...!

जिसने कर्मरज झटक कर अलग कर दिए, वह अवधू या अवधूत कहलाता है।

अवधूत, जिसे किसी भी व्यक्ति या पदार्थ के प्रति रुचि या घृणा नहीं होती, ऐसे व्यक्तित्व तो विरल होते हैं।

यही पद आगे बहुत ही सुन्दर बात कहता है, “समरस भाव भला चित्त जाके, थाप उथाप न होई; अविनाशी के घर की बातां, जानेंगे नर सोई।”

यह पद साधक की उदासीन दशा, और उसकी गहराई का वर्णन करता है। हम इस पद को इसलिए देख रहे हैं, क्योंकि स्वानुभूति के मध्याह्न के समय उदासीन दशा छा चुकी होती है।

जब साधक स्वानुभूति के इस चरण तक पहुँचता है, तब उसकी उदासीन दशा अत्यन्त गहरी हो चुकी होती है, और इस पृष्ठभूमि पर स्वगुणों और स्वरूप की अनुभूति भी अत्यन्त तीव्र होती है।

यहाँ स्व की अनुभूति की मात्र झलक नहीं होती, बल्कि यह स्थाई बन जाती है।

इसी सन्दर्भ में ही तो उपरोक्त पद में कहा गया है, “अविनाशी के घर की बातां, जानेंगे नर सोई।” यानी, प्रभु के घर की, अर्थात् स्व की बातें तो वह स्वयं ही जान सकता है। प्रभु का तात्पर्य हुआ - निर्मल चेतना, और स्व का तात्पर्य भी निर्मल चेतना ही है।

अपनी निर्मल चेतना की बात पहचानने में कौन सक्षम है?

जिस साधक में ऐसा उदासीन भाव उत्पन्न हो चुका हो, कि वह किसी भी घटना को अच्छी या खराब नहीं मानता। घटना तो घटना है, पर्याय ऐसे नहीं तो वैसे, क्या फ़र्क पड़ने वाला है? पर्याय बदल गए तो क्या हो गया? पर्यायों को जैसे रहना है, रहे; साधक को तो मात्र उसके द्रष्टा की भूमिका निभानी है न!!

आप मात्र द्रष्टा हैं।

पदार्थ जिस रंग का है, आप उसे वैसा ही देखते हैं। आपकी कल्पना ही उस पदार्थ में अच्छाई या बुराई का आरोपण करती है।

घटना जैसी घटित होने वाली थी, वैसी हो चुकी है; आप मात्र उसे देख रहे हैं। आपको उसमें न तो राग है, और न ही द्वेष।

निन्दा के शब्द हो या स्तुति के, क्या अन्तर? शब्द तो पौद्गलिक घटना है, और आप अपौद्गलिक चैतन्यमूर्ति हैं।

मीरां के शब्द हैं, “कोई निन्दे, कोई बन्दे, मैं अपनी चाल चलूंगी।”

कोई क्या करता है, यह उसका मामला है; साधक के लिए यह अप्रासंगिक है।

साधक तो परम उदासीन है, उसे तो ‘पर’ की दुनिया में होने वाली किसी भी घटना से कोई सम्बन्ध नहीं होता।



‘योगशास्त्र’ के १२वें प्रकाश में उदासीन दशा में स्थित साधक के आन्तरिक वैभव की बात कुछ ऐसे कही है, “उदासीन दशा में लिप्त साधक परम आनन्द में होता है। वैभाविक स्तर पर उसकी कोई प्रवृत्ति नहीं होती (शरीर अपनी योग्य प्रवृत्तियाँ करता है)। उस स्तर पर विचारों का अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि विचार तो रति या अरति की ओर ले जाते हैं, और साधक तो आनन्द में है।”<sup>1</sup>

1. औदासीन्यनिमग्नः प्रयत्नपरिवर्जितः सततमात्मा। भावितपरमानन्दः क्वचिदपि न मनो नियोजयति॥

जो साधक उदासीन बन चुका है, उसे 'पर' जगत् में कोई रुचि नहीं रहती। तो फिर वह 'पर' की दुनिया में स्थित कर्तृत्व मार्ग पर चलेगा कैसे?

हम शायद कह दें, कि क्या ऐसा साधक भोजन नहीं लेगा? लेगा, किन्तु उसकी स्पष्ट धारणा है, कि शरीर को भोजन चाहिए, तो दे दिया। बड़े पुद्गल (शरीर) को छोटे पुद्गल (भोजन) तो चाहिए! किन्तु यह 'चाहिए' किसे? शरीर को, साधक को नहीं।

न कुछ करना है, न ही कुछ सोचना; मात्र 'स्व' में प्रतिष्ठित होकर रहना है। ऐसे साधक को अपनी परम्परा में जीवन्मुक्त साधक कहा गया है।



महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज कहते हैं, कि श्रामण्य के एक वर्ष के बाद प्रभु के श्रमण-श्रमणी को जीवन्मुक्त दशा प्राप्त होती है।

जीवन्मुक्त मुनि की स्थिति कैसी होती है?

उदासीन दशा में लिप्त साधक का उपयोग (मन) सतत आत्मभाव में ही होता है। बहिर्भाव में वह साधक तो सुषुप्त है। 'पर' द्रव्यों के प्रति वह उदासीन है, और 'स्व' गुणों, अर्थात् आनन्द, वीतराग दशा आदि की धारा में वह डूबा रहता है।

मूल बात यह है, कि आत्मभाव में सतत उपयोग रहना चाहिए। आत्मभाव में उपयोग स्थिर रखने के पीछे का कारण भी बताया गया है, कि वह पर-भाव में सुषुप्त है।

परभाव में सुषुप्ति के माध्यम से आत्मभाव में जागृति - यह एक मजेदार साधना है। मजेदार इसलिए, क्योंकि अनिवार्य पर-पदार्थों का इस्तेमाल होता रहता है, किन्तु उनमें मन का जुड़ाव नहीं रहता। पर-पदार्थों के प्रति पूर्ण उदासीनता होती है।

एक बार सुविख्यात कवि सुरेश दलाल से जया मेहता ने प्रश्न किया, "आप तो बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति हैं, जहाँ भी जाते हैं, वहाँ प्रशंसक घेर लेते हैं, ऑटोग्राफ के लिए कहते हैं। उस समय आपको कैसा लगता है?"

सुरेश दलाल बोले, "मैं कोई ऐसा सन्त नहीं हूँ कि अहंमुक्त होने का दावा करूँ। किन्तु मुझे ऐसी कोई फीलिंग नहीं होती। नहते हैं, तो पानी शरीर से होकर

2. जाग्रत्यात्मनि ते नित्यं, बहिर्भावेषु शरते।

उदासते परद्रव्यं, लीयन्ते स्वगुणामृते॥ - पंचविशतिका

गिर जाता है, बस ऐसा ही महसूस होता है। रोज की बात है, अब तो इसकी आदत पड़ गई है, इसलिए मन पर इसका असर नहीं पड़ता।”

पर-द्रव्य में उदासीन साधक की मनोवृत्ति ऐसी ही होती है। खाना और पीना चलता रहता है, किन्तु मन स्व के आनन्द में इतना रत हो चुका होता है कि ये सब बातें ध्यान में ही नहीं आती।

कैसा मजा!! कैसा आनन्द!!

शरीर का रास्ता अलग, आपकी राह अलग। यहाँ आप अपने मन के स्वामी बन जाते हैं, इसलिए मन भी आपको पीड़ित नहीं कर सकता।

यदि मन आपके नियन्त्रण में न हो, तो वह विकल्पों के द्वारा आपका हरण कर लेगा। अनियन्त्रित मन से स्व की प्राप्ति कैसे सम्भव है?

अष्टप्रवचन माता की सज्जाय में पू. देवचन्द्रजी महाराज कहते हैं :

पर सहाय गुणवर्तना रे, वस्तु धर्म न कहाय;

साध्यरसी ते किम ग्रहे रे, साधु चित्त सहाय।

यह सूत्र गुजराती भाषा में उपलब्ध साधना के श्रेष्ठ सूत्रों में से एक है। एक मुनि, अपने मन की सहायता क्यों लेगा? जब उसे स्व में डूबना हो तब! संज्ञाप्रभावित मन तो आपको ‘पर’ की ओर ले जाएगा। अपने ही गुण, या अपने ही स्वरूप में क्या आप अन्य की, अर्थात् चित्त की सहायता से जाएँगे?

कोई व्यक्ति किसी अन्य शहर में जाए, तो उसे वहाँ रहने वाले सम्बन्धियों का पता ढूँढना पड़ता है, ज़रूरत पड़े तो किसी से पूछना पड़ता है। किन्तु अपने ही घर में जाने के लिए किसी मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है क्या?

मुझे अपने घर में जाना है, अपनी स्वरूपदशा में जाना है, तो इसमें विचारों की आवश्यकता कहाँ से आई?

हाँ! शास्त्रों द्वारा शुद्ध हुई बुद्धि (शास्त्रपरिकर्मित बुद्धि) के इस्तेमाल में कोई हानि नहीं है, क्योंकि उस बुद्धि से अनुप्रेक्षा का जन्म होगा, जो अन्ततः अनुभूति में रूपान्तरित होगी।

इसी सन्दर्भ में श्रीकृष्ण ने गीता में बुद्धियोग शब्द का प्रयोग किया है।<sup>1</sup> उन्होंने अर्जुन से कहा, कि मैं तुझे बुद्धि नहीं, अपितु बुद्धियोग दे रहा हूँ।

जिस बुद्धि से स्वतः ज्ञान प्राप्त हो, वही बुद्धियोग है।

उसी भगवद् गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, “तू मुझे अपना मन समर्पित कर, और अपनी बुद्धि भी मुझे दे। मैं तुझे वचन देता हूँ कि यदि तू इतना कर लेगा तो मेरे भीतर ही तेरा निवास हो जाएगा।”<sup>2</sup>

यह भक्त का लय है, भक्त का प्रभु या सद्गुरु में निवास, अर्थात् अपनी निर्मल चेतना में निवास।



महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने स्तवना करते हुए कहा, “तुं मति...” प्रभु! आप ही मेरी बुद्धि हैं, क्योंकि आपके वचनों और आपकी कृपा से ही तो मेरी बुद्धि विकसित हुई है।

इसका एक मजेदार उदाहरण भी वे देते हैं। प्रभु सुविधिनाथ की स्तवना में वे कहते हैं, “प्रभु! मैं तो बालक हूँ, फिर भी कदाचित् आपके हृदय में मेरा निवास नहीं है। और दूसरी ओर, आप तो त्रिलोकेश्वर हैं, फिर भी मेरे छोटे से हृदय में आप विराजित हैं। अब आप ही बताइए, इस बात के लिए शाबाशी किसको मिलनी चाहिए?”

फिर तुरन्त ही इसका उत्तर भी देते हैं, “हे प्रभु! आपकी कृपा से ही तो मुझे यह विचार आया, इसलिए शाबाशी तो आपको ही मिलेगी।”<sup>3</sup>

उपनिषद् के ऋषि कहते हैं, “यस्य भासा विभाति इदं सर्वम्”, अर्थात् उसके (प्रभु के) प्रकाश से ही सब कुछ दृष्टिगोचर होता है। आत्मा, अनात्मा आदि तत्त्व प्रभु ने ही तो बताए हैं न!!



1. ददामि बुद्धियोगं ते॥ - भगवद् गीता

2. मय्येव मन आधत्स्व. मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव, अतः उध्वं न संशयः॥ - भगवद् गीता

3. लघु पणं हुं तुम मनं न वि मावुं रे, जगगुरु! तुमने दिलमां लावुं रे; कृणुने दीजे अहे साबाशी रे, कहो श्री सुविधि जिणंद! विमासी रे.../जेहने तेजे बुद्धि प्रकाशी रे, तेहने दीजे अहे साबाशी रे...



उदासीन दशा में लिपटी स्वानुभूति, तीसरे चरण में होती है।

उदासीन दशा को, आत्मगुण को प्रगाढ़ रूप से कैसे प्राप्त किया जा सकता है?

इस हेतु एक तो साधना का तरीका है, जो थोड़ा-बहुत हमने देखा; और दूसरा तरीका है भक्ति, वह हम अब देखते हैं।



“प्रीतलडी बंधाणी रे अजित जिणंदसुं...” इस स्तवन में एक हृदयंगम पंक्ति है, “ध्याननी तारी रे लागी नेहसुं” – यह एक अद्भुत ध्यान सूत्र है।

ध्यान की तन्मयता प्रभु के स्नेह और भक्ति से प्राप्त होती है।

कैसे?

प्रभु की भक्ति का अर्थ है प्रभु की आज्ञा की भक्ति। और ‘स्वरूप में स्थिर होना’ ही प्रभु की आज्ञा का निचोड़ है।<sup>1</sup>

स्व में स्थिर होना ही ध्यान है। श्रीपाल रास में कहा है, “आतम ध्याने आतमा, ऋद्धि मळे सवि आई रे...”



“ध्याननी तारी रे लागी नेहसुं.”

‘तारी’ शब्द सूफी परम्परा से है। ‘तारी’, ‘सतोरी’ आदि सूफीयाना ध्यान के पड़ाव हैं।

‘तारी’ का अर्थ है तन्मयता।



- 
1. आगम नोआगम तणो, भाव ते जाणो साचो रे;  
आतमभावे स्थिर होजो, परभावे मत राचो रे. – श्रीपाळ रास

महोपाध्याय यशोविजयजी महाराज शान्तिनाथ प्रभु की स्तवना में कहते हैं :

‘जिनही पाया तिनही छिपाया, न कहे कोउ के कान में;  
तारी लागी जब अनुभव की, तब समजे सहु सान में।’

भीतर का अपार आनन्द... जिसने यह आनन्द पाया है, उससे पूछिए, “कैसा है यह आनन्द?” तो वह क्या उत्तर देगा? वह कह भी क्या सकता है? कबीरजी कहते हैं, “गूंगे केरी सरकरा...” गूंगे व्यक्ति ने यदि शक्कर खाई और आप उससे स्वाद पूछें, तो वह क्या कह पाएगा? वह मुख पर आनन्द प्रदर्शित कर सकता है, किन्तु बोलकर बता नहीं पाएगा।

वही बात यहाँ कही गई है, “जिनही पाया तिनही छिपाया, न कहे कोउ के कान में ...”

तो फिर क्या मार्ग है?

“तारी लागी जब अनुभव की, तब समजे सहु सान में...” जब उस आनन्द की अनुभूति हो जाए तो दिखता है मात्र अनुभव का झिलमिलाता प्रकाश। अब शब्दों के टिमटिमाते दीप की कहाँ आवश्यकता रही?



पूज्य वीरविजय महाराज अनुभूति को बलवान बनाने के लिए उपयोग को स्व की ओर ले जाने का निर्देश देते हैं।

उपयोग (मन) जितना ‘पर’ से हटेगा, और ‘स्व’ की ओर जायेगा, उतना अधिक स्वानुभूति का स्वाद मिलेगा। अत्यन्त मीठे शब्दों में वे कहते हैं :

‘अनुभव रंग वध्यो उपयोगे, ध्यान सुपान में काथा चूना;  
चिदानंद झकझोल घटा से, श्री शुभवीर विजय पडिपुत्रा।’

आत्मोपयोग से आत्मानुभूति...

आत्मानुभूति ही ध्यान है...

जब यह अनुभूति होती है तब ज्ञान एवं आनन्द का अमृत-कुम्भ खुलता है।  
फिर आनन्द ही आनन्द....।



उपयोग को स्व की ओर ले जाने से होने वाली अनुभूति की बात पू. वीरविजय  
महाराज ने की। पू. चिदानन्दजी महाराज इसका समर्थन करते हुए कहते हैं :

‘पण तुम दरिसन योगथी, थयो हृदये हो अनुभव प्रकाश;  
अनुभव अभ्यासी करे, दुखदायी हो सहु कर्म विनाश।’<sup>1</sup>

प्रभु की वीतराग आदि दशा का दर्शन।

भीतर से एक लहर सी उठती है, “मुझमें भी तो वीतराग दशा है न!”  
तत्पश्चात् अपनी वीतराग दशा का अभ्यास, उपयोग को पुनः उस ओर ले जाना,  
अनुभव का स्थाई होना आदि चलता है।

कितनी सरल किन्तु हृदयंगम अभिव्यक्ति है!!

अनुभूतिवान सद्गुरु ही भीतरी मार्ग की ऐसी स्पष्ट और सरल व्याख्या कर  
सकते हैं।



स्वानुभूति।

अब हमारा लक्ष्य मात्र ‘स्व’ की ओर ही है। ‘पर’ अब दूर-सुदूर चला गया है।

उदासीन दशा प्रबल स्वानुभूति की पृष्ठभूमि है।

उदासीन दशा जब पूर्ण कलाओं में खिल चुकी हो, तो अब ‘पर’ के लिए  
स्थान रहेगा भी कैसे?



पूज्य देवचन्द्रजी महाराज ने परमात्मा के साथ स्थापित हुए लय की जो बात  
कही है, वही बात साधक की निर्मल चेतना के लिए भी है :

1. श्री नेमि जिन स्तवना

शुद्ध स्वरूप सनातनो, निर्मल जेह निस्संग हो!

आत्मविभूते परिणम्यो, न करे ते परसंग हो!<sup>2</sup>

शुद्ध चैतन्य की परम विभूति को चार विशेषणों से निर्दिष्ट किया गया है :

जो शुद्ध स्वरूप से युक्त हैं, जो शाश्वत लय में स्थिर हैं, जो राग-द्वेष से रहित हैं, और जो सर्वसंग से मुक्त हैं।

उत्तरार्ध में कही गई बात बहुत मजेदार है, कि ऐसे आन्तरिक वैभव में जीने वाला साधक 'पर' के संसर्ग में कैसे हो सकता है?

कोई सामान्य मनुष्य बाह्य संसार या अन्य व्यक्ति की ओर क्यों आकर्षित होता है? क्योंकि उसे अब तक स्वयंसम्पूर्णता का बोध नहीं हुआ। इसीलिए दूसरे उसे अच्छा कहेंगे तो उसके अहंकार को तुष्टि मिलेगी; इस हेतु वह प्रयास करता है। वहाँ स्वयंसम्पूर्णता की जगह अहंसम्पूर्णता है।

किन्तु,

आप तो स्वयंसम्पूर्ण हैं, पूर्ण आनन्द आपके भीतर ही है, पूर्ण ज्ञान आपके भीतर ही है। अब बाहर जाने की आवश्यकता ही क्या है? बाहर कुछ भी नहीं है।

राबिया के घर एक सन्त पधारे। सन्त शहर से आए थे, और वहाँ भीड़ भरी जगह पर उनका आश्रम था।

राबिया की झोंपड़ी पहाड़ी पर थी; चारों ओर जंगल, झरने, पहाड़ थे। सन्त यह नजारा देखकर खुश हुए। सूर्योदय का समय था, ऐसा खुशनुमा सूर्योदय सन्त ने पहले कभी नहीं देखा था।

सन्त ने राबिया को आवाज़ दी, “अरे! अन्दर क्या कर रही हो? बाहर आओ। देखो! उगता हुआ सूरज कितना मनोहर लग रहा है।”

राबिया बोली, “मेरे भीतर का सूर्योदय हो चुका है, अब मुझे बाहरी सूर्योदय देखने की कोई इच्छा नहीं है।”

यहाँ मजेदार बात यह है, कि भीतर का यह आनन्द निःसंग दशा से प्राप्त होता है।

पूर्वाश्रम में राबिया एक सेठ के यहाँ नौकरी करती थी, वेतन कुछ नहीं था,

2. श्री अभिनन्दन जिन स्तवना

सिर्फ खाना-पीना मिलता था। सेठ स्वभाव से कठोर हृदय के थे, थोड़ी सी भी भूल हो तो वे राबिया को चाबुक से मारते।

एक बार राबिया मेज़ की सफ़ाई कर रही थीं, झाड़ते-झाड़ते मेज़ पर रखी कांच की फूलदानी उनके हाथ से गिरकर चकनाचूर हो गई।

राबिया डर के मारे काम्पने लगी, अब सेठ क्या करेगा? जान से तो नहीं मार देगा?

जान बचाने के लिए वे पीछे के दरवाज़े से भागीं। नंगे पैर बीहड़ जंगल में कांटे और कंकर के बीच भागते-भागते खून बहने लगा। आगे एक गड्ढा था, लेकिन गहरे जंगल के अन्धेरे में दिखाई नहीं दिया और वे उसमें गिर गईं। ऐसा लगा मानो हाथ-पैर टूट गए होंगे। मन में विचार आया, “मैं पढ़ी-लिखी तो नहीं हूँ, ऊपर से हाथ-पैर टूट गए तो मुझे नौकरी कौन देगा? मेरा गुज़ारा कैसे चलेगा?”

उसी समय उसके पूर्वभव की साधना के संस्कार जागृत हुए। उसे यह विचार आया कि, “मैं तो स्वयंसम्पूर्ण हूँ, मैं शरीर थोड़े ही हूँ? मैं तो आनन्द हूँ, आनन्द...”

गड्ढे से बाहर आईं, फिर एक आत्मज्ञानी सन्त के रूप में प्रसिद्ध हुईं। अनेक ज्ञानपिपासु लोग उनसे पूछते, “हम अपने भीतर कैसे जाएँ?” तो राबिया उत्तर देते, “यदि ‘पर’ का संसर्ग नहीं है तो आप ‘स्व’ में ही हैं।”

कितनी श्रेष्ठ बात कही! यदि आप ‘पर’ में नहीं तो प्रथम दृष्ट्या आप ‘स्व’ में ही हैं। और जैसे-जैसे उदासीनता गहरी होती जाएगी वैसे-वैसे ‘स्व’ की अनुभूति भी प्रगाढ़ होती जाएगी।

जैसे ही उदासीनता प्रगाढ़ होगी, फिर बाहर जाने का कोई प्रयोजन ही नहीं बचेगा। सब कुछ भीतर मिल ही रहा है।

किसी तीर्थस्थान पर कोई यात्री शाम के समय आया। भोजनशाला में चौविहार किया, जिनालय में भक्ति की और फिर धर्मशाला में अपने कमरे में गया। अब कमरे में अटैच टॉयलेट, पंखा, A. C. आदि सब सुविधाएँ हैं; तो रात के समय उसे अपने कमरे से बाहर निकलने का कोई प्रयोजन ही नहीं रहा। उसे जो भी चाहिए, सब कुछ कमरे में है। अब तो सुबह उठने के बाद जिनालय जाने के लिए ही वह कमरे का दरवाजा खोलेगा।

किन्तु यदि पुराने समय की धर्मशाला हो, जहाँ अटैच टॉयलेट न हो, तो रात को उसे बाहर निकलना पड़ेगा।

आप स्वयंसम्पूर्ण हैं, आपको बाहर जाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

स्वयंसम्पूर्णता... जो अलिप्त भाव / उदासीनता की अनुभूति के कारण प्राप्त हुई है।

आप अलिप्त हैं, आत्मद्रव्य का किसी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। पूज्यपाद देवचन्द्रजी महाराज चौथे स्तवन में कहते हैं, “जैसे एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ मिश्रण नहीं होता, वैसे ही एक आत्मद्रव्य का दूसरे आत्मद्रव्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता।”<sup>1</sup>

यदि लिप्तता का नितान्त अभाव है, तो अलिप्तता तो स्वाभाविक रूप से होगी ही!!



इस अलिप्तता / उदासीन दशा से परिपूर्ण स्वानुभूति को प्रगाढ़ बनाने के लिए देवचन्द्रजी महाराज एक मजेदार क्रम बताते हैं :

“स्वरूप-बोध, स्वरूप-रमणता, स्वरूप-ध्यान, तथा स्वरूप-प्राप्ति।”<sup>2</sup>

**प्रथम चरण : स्वरूप-बोध ।**

यह बोध मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से होता है।

मोह का उन्माद नष्ट होते ही “मैं शरीर नहीं, किन्तु राग-द्वेष से रहित शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ” का बोध होता है।

मैं आनन्द-स्वरूप एवं ‘पर’ के संसर्ग से अलिप्त आत्मद्रव्य हूँ।

“मैं आनन्दधन चैतन्य हूँ” - इसका मात्र शाब्दिक बोध आपको या शरीर से जोड़े रखता है या अहंकार से।

1. ‘द्रव्ये द्रव्य मिले नहि...’

2. मोहादिकनी घूमि अनादिनी ऊतरे हो लाल,

अमल अखंड अलिप्त स्वभाव जे सांभरे हो लाल;

तत्त्वरमण शुचि ध्यान भणी जे आदरे हो लाल,

ते समता रस धाम स्वामी मुद्रा बरे हो लाल... - श्री सुविधिजिन स्तवना



जिसने अध्यात्म के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया हो, यदि उससे यह कहें कि 'आप तो बड़े ज्ञानी हैं,' और यह सुनकर उसका अहं छलक उठे तो यह मानना होगा कि यह मात्र ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम है, मोहनीय का नहीं।

मैं छोटा था, उस समय की यह घटना है। परम पावन पालीताणा में तारक गुरुदेव की निश्रा में चातुर्मास था। उस समय दोपहर में गिरिविहार धर्मशाला में पू. पंन्यास श्री अभयसागरजी महाराज की वाचना होती थी, और मैं सुनने जाता था। वे बार-बार कहते थे कि, "साधना के मार्ग में आगे बढ़ने के लिए मोहनीय का क्षयोपशम नितान्त आवश्यक है।"

उनका एक दृष्टान्त मुझे बहुत भाया, बहुत 'टची' था वह। उन्होंने कहा कि किसी साधक ने एक घण्टे में ५० गाथाएँ कण्ठस्थ कीं, किन्तु "मैंने इतनी सारी गाथाएँ एक घण्टे में की...!!" इस बात का अहंकार हुआ। उस साधक ने ज्ञानावरणीय कर्म का तो क्षयोपशम किया, किन्तु मोहनीय का उदय किया, अन्त में हासिल क्या हुआ?



आत्मबोध।

'अमल अखंड अलिप्त स्वभाव ज सांभरे हो लाल'।

मैं राग-द्वेष से परे हूँ, अखण्ड हूँ और कर्म से अलिप्त हूँ।

एक प्रतीति... अनुभूति... हल्की सी अनुभूति...

किन्तु किसकी अनुभूति...?

आपके ही आनन्दमय स्वरूप की अनुभूति।

यह प्रथम चरण के स्वरूप का वर्णन हुआ।



**द्वितीय चरण : स्वरूप-रमणता।**

हल्की अनुभूति, अब गहराई धारण करती है। अब शुद्ध स्वरूप-दशा में स्थिरता आ जाती है।

यहाँ ऐसी दशा प्राप्त होती है, कि कभी स्वतः भोजन कर लिया तो ठीक, कभी कोई याद दिलाए या भोजन खिलाए तो ठीक, अन्यथा ख्याल भी नहीं रहता कि भोजन करना बाकी है।

साधक को अपने भीतर इतना आनन्द मिलता है कि वह बाहर आने को सोचता ही नहीं, उसका बाह्य जगत के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

हो सकता है कि किसी के कहने से वह कोई कार्य कर दे, किन्तु उसके साथ साधक का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं होता।

समाधि शतक में कहा गया है कि, “आतमज्ञाने मगन जो, सो सब पुद्गल खेल; इन्द्रजाळ करी लेखवे, मिले न तिहां मनमेल...”

भीतर में डूबे साधक को बाह्य जगत के क्रियाकलाप पुद्गलों के खेल लगते हैं।



स्वरूप-रमणता।

सतत अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में ही स्थिरता रहती है, अब बाहर जाना होता ही नहीं। अनन्त आनन्द भीतर ही है, इसलिए बाहर निकलने का कोई प्रयोजन ही नहीं है।

यह भूमिका तात्त्विक-निश्चय चारित्र की है।



**तृतीय चरण : स्वरूप-ध्यान।**

स्वरूप-रमणता के बाद आता है स्वरूप-ध्यान, अर्थात् स्वरूप-तन्मयता।

रमणता अब तन्मयता में रूपान्तरित हो जाती है। ध्यान की धारा बहती है, और यह धारा धर्मध्यान से शुक्लध्यान की ओर जाती है।

अब मात्र स्वरूप में ही रहना है।

साधक इस आनन्द की व्याख्या कैसे करेगा?

रामकृष्ण परमहंस कहते थे, “नमक का पुतला पानी की गहराई मापने के लिए समुद्र में उतरा, अब बाहर कौन आएगा?”



जो साधक प्रगाढ़ ध्यान में है, वह तो सतत अपने भीतर है, बाहर की दुनिया को वह कोई भी सूचना देने के लिए कैसे जाएगा? और यदि गया भी, तो सामान्य लोगों को भीतर की दुनिया के समाचार किन शब्दों में बताएगा?

संयोग एवं वियोग से उत्पन्न रति-अरति में डूबे मनुष्य से असंयोगजन्य परम आनन्द की बात वह साधक कैसे करे? उस व्यक्ति को यह कैसे समझ आएगा कि कुछ भी नहीं करना है, मात्र आन्तरिक प्रवाह में बहना है, और इससे आनन्द मिलता है? 'परम अक्रियता अमृत पीधु...'¹ यह बात भीतरी आनन्द के अनुभव के बिना कैसे समझ आ सकती है?



### चतुर्थ चरण : स्वरूप दशा की प्राप्ति।

इस स्वरूप दशा की पराकाष्ठा तीर्थंकर भगवन्त, १३वें गुणस्थानक में विराजित केवलज्ञानी भगवन्त तथा सिद्ध भगवन्तों के पास होती है।

यह पराकाष्ठा कैसी होती है?

पूज्यपाद श्री देवचन्द्रजी महाराज ने श्री सुविधिनाथ भगवान की स्तवना में इस पराकाष्ठा की बात कही है :

तुमे प्रभु! जाणंग रीति सर्व जग देखतां हो लाल,  
निज सत्ताए शुद्ध सहने लेखतां हो लाल;  
पर परिणति अद्वेषपणे उवेखतां हो लाल,  
भोग्यपणे निज शक्ति अनन्त गवेषता हो लाल।

वहाँ होता है पर-पदार्थों या घटनाओं के प्रति ज्ञाताभाव; और होता है चैतन्य मात्र में ज्ञानादि की पूर्णता का दर्शन; और कर्मोदय के कारण सांसारिक आत्माओं में उत्पन्न होते काम, क्रोध आदि का अद्वेषपूर्ण दर्शन; और स्वरूप / स्वगुण का भोक्तृत्व।



1. पू. देवचन्द्रजी महाराज : श्री पार्श्वजिन स्तवना

स्वरूप की पराकाष्ठा में ज्ञायकभाव है। जानना है, और देखना है। अच्छी हो या बुरी, किसी भी पदार्थ या घटना का वर्गीकरण नहीं करना।

सामान्य मनुष्य ज्ञेय को मात्र देखता ही नहीं, अपितु अपनी कल्पना के रंग से ज्ञेय और घटना को रंगता भी है। और ज्ञायकभाव न होने के कारण दुःखी भी होता है।

साधक जब साधनावस्था में ज्ञायकभाव लाता है, तब वह यथार्थ में सुखी बनता है।<sup>2</sup>

प्रभु ज्ञायकभाव से सब कुछ जानते हैं। उन्हें केवलज्ञान और केवलदर्शन है, किन्तु वीतराग दशा के कारण उन्हें कोई भी पदार्थ अच्छा या बुरा नहीं लगता।

जो जैसा है, उसे वैसा ही देखते हैं।



प्रत्येक चैतन्य आत्मा में स्थित पूर्णता को प्रभु देखते हैं। प्रत्येक आत्मा ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण है, ऐसा प्रभु को दिखाई देता है।

‘ज्ञानसार’ में महो. यशोविजयजी महाराज कहते हैं, “पूर्ण स्वरूपी केवली और सिद्ध परमात्मा, पूरे जगत को भी पूर्ण ही देखते हैं।”<sup>3</sup>

कितनी रोचक बात है, यदि इसका मर्म हमें प्राप्त हो जाए तो...!!

फिर दुनिया को बदलने की आवश्यकता ही न रहे। हमारी दृष्टि बदली, तो दुनिया स्वतः बदल जाएगी।



आगे की बात; सांसारिक आत्मा में कर्मोदय से क्रोध, आसक्ति, अहंकार आदि उत्पन्न होते हैं, किन्तु ‘स्व’रूप की पराकाष्ठा पर पहुँचे प्रभु, समस्त दोषों को अद्वेष की दृष्टि से देखते हैं। ये सब दोष आत्मधर्म से पृथक् हैं, इसलिए प्रभु उनकी उपेक्षा करते हैं।

साधक को राह दिखाने वाली यह बात भी कितनी सुन्दर है! चैतन्य स्वरूप आत्मा को शुद्ध ही देखना है, और दोषों को कर्म के उदय के कारण उठा विकार समझना है।

2. महो. यशोविजयजी : ‘ज्ञायकभाव जे अकेलों, ग्रहे ते सुख साधे...’ - सवासो गाथानुं स्तवन.

3. ज्ञानसार : “सच्चिदानन्दपूर्णन पूर्ण जगदवेक्ष्यते।”

इस स्थिति में किसी भी आत्मा पर धिक्कार कैसे आएगा ?



और अन्त में कहा है, “प्रभु आन्तरिक वैभव का भोग कर रहे हैं।”

स्वरूप की पराकाष्ठा पर है, मात्र स्वनिष्ठता... परम आनन्द और स्व के परम वैभव का प्रकटीकरण।



पूज्य देवचन्द्रजी महाराज द्वारा दिए गए रोचक आन्तरिक क्रम का हमने स्वाध्याय किया। स्वरूप-बोध, स्वरूप-रमणता, स्वरूप-ध्यान और स्वरूप-दशा की प्राप्ति।

आइए, इस साधना के मार्ग पर चलें और स्वानुभूति के मध्याह्न की ओर प्रयाण करें।





### 3. स्वानुभूति के मध्याह्न के समय की भावदशा



- यहाँ साधक का 'पर' के साथ सम्बन्ध नहीं बरह चुका है, क्योंकि 'पर' की ओर ले जाने वाले राग-द्वेष आदि तत्त्व शिथिल बन चुके होते हैं।
- यहाँ उदासीन दशा अत्यन्त प्रगाढ़ होती है।
- 'स्व' का आनन्द वर्धमान होने के कारण यहाँ साधक पू. देवचन्द्रजी महाराज द्वारा बताए 'आत्मविभूते परिणम्यो, न करे ते पर संग हो' की दशा में होता है।
- उदासीन दशा या वर्तमान योग में ही सतत स्थिरता रहती है।
- वर्तमान योग अर्थात् मात्र वर्तमान काल में रहना एवं उदासीन दशा में रहना। भूत और भविष्य का कोई विचार नहीं।



# परिशिष्ट :

स्वानुभूति में प्रवेश एवं स्थिरता हेतु  
विशेष पठन सामग्री

## 1. स्वानुभूति का पूर्वचरण

**आधारसूत्र** ताहरी शुद्धता भास आश्चर्यथी,  
ऊपजे रुचि तिणे तत्त्व ईहे;  
तत्त्वरंगी थयो दोषथी ऊभग्यो,  
दोषट्यागे ढळे तत्त्व लिहे।

प्रभु! देवाधिदेव! सुमतिनाथ भगवान!

१. आपकी निर्मल दशा को देखकर आश्चर्य होता है, कि अहो! ऐसी अपूर्व निर्मल दशा! ऐसी निर्मलता तो कभी नहीं देखी।
२. यह निर्मलदशा मन को भाती है।
३. ऐसी निर्मलता मेरे भीतर कब और कैसे प्रकट होगी? ऐसी उत्कण्ठा उत्पन्न होती है।
४. फिर यह उत्कण्ठा और गहरी बनती है। प्रबल आकांक्षा, कि यह निर्मलता मुझे कब प्राप्त होगी, कब मिलेगी, कब ...? अस्तित्व के स्तर पर यह आकांक्षा स्थाई रूप धारण करती है। निर्मल दशा की उत्कण्ठा के रंग में अस्तित्व रंग जाता है।
५. अब दोष और अशुद्धियाँ (राग-द्वेष) कचोटने लगते हैं।
६. फिर अशुद्धियाँ नष्ट हो जाती हैं।
७. निर्मल दशा का आस्वादन प्राप्त होता है।

\*\*\*





‘शिवसूत्र’ में एक अच्छा पद दिया है, “विस्मयो योगभूमिका”, अर्थात् योग और साधना में प्रवेश का द्वार है - विस्मय, आश्चर्य।

‘स्नातस्या’ सूत्र में एक रोमहर्षक प्रसंग आता है। माता इन्द्राणी मेरूशिखर पर प्रभु का अभिषेक करके उन्हें देख रही हैं, और प्रभु का दर्शन करके विस्मित होती हैं,<sup>1</sup> “ऐसा रूप! अद्भुत! अद्वितीय!”

वैसे भी प्रभु का रूप तो रूप की चरम सीमा पर होता है। करोड़ों देव एकत्र होकर भी यदि अपने रूप को जोड़ दें, तो भी वह रूप, प्रभु के पैर के अंगूठे के समकक्ष भी नहीं होता।<sup>2</sup>

प्रभु का ऐसा रूप देखकर माता इन्द्राणी आश्चर्यचकित होती हैं, और भाव-विभोर हो जाती हैं।

कैसी भाव-विभोरता!!

प्रभु को देखकर उनकी आँखों से हर्षाश्रु बरसते हैं। उन अश्रुओं की नमी प्रभु के मुख पर प्रतिबिम्बित होती है। उन्हें लगता है कि प्रभु का मुख गीला है, और वे बार-बार प्रभु का मुख पोंछती हैं।

आश्चर्य के बाद दर्शन का आनन्द...

क्या इन दो तत्त्वों का परस्पर सम्बन्ध है?

हाँ! अवश्य है।

1. स्नातस्या प्रतिमस्य... रूपालोकन विस्मयाऽ

2. कौटिल्य मील के कर न सके, अक अंगूष्ठ रूप प्रतिछंद;

ऐसो अद्भुत रूप तिहारो, वरसत मानुं अमृत के बुंद... - महो. यशोविजयजी

आश्चर्य, अद्भुत घटना है। आश्चर्य ही हर साधना में प्राण फूंकता है। यदि आश्चर्य-भाव उत्पन्न न हो तो साधना शुष्क हो जाती है। कॉन्सियस माइंड क्या करता है, पता है? शरीर जिनालय में होता है, और वह... कहीं ओर घूम रहा होता है। फिर दर्शन का आनन्द कैसे मिलेगा?

यह 'आश्चर्य' नामक तत्त्व इस कॉन्सियस माइंड को कुछ देर के लिए सुला सकता है।

आप भी इसका अनुभव कर सकते हैं। मुनिराज और साध्वीजी भगवती प्रातः उठकर पहला कार्य रजोहरण को मस्तक पर लगाने का करते हैं। उन्हें प्रतिदिन यह विस्मय होता है कि, "अहो! प्रभु का यह अनुपम दान हमें प्राप्त हुआ है।" और यह सोचकर उनकी पलकें भीग जाती हैं, मानो कि वे कह रही हों कि, "प्रभु! मेरी न तो योग्यता है, न ही तैयारी, फिर भी आपका यह अपूर्व वरदान मुझे मिला है।"

आप भी ऐसा कर सकते हैं। प्रातःकालीन प्रतिक्रमण करते समय चरबले और मुहपती को मस्तक पर लगाकर विचार कीजिए, "अहो! प्रभु की यह अपूर्व भेंट हमें प्राप्त हुई है।" इस विचार से तुरन्त ही आपकी भी पलकें भीग जाएँगी।

'नमुत्थुण' सूत्र बोलते समय यदि ये भाव आते हैं कि, "अहो भाग्य हमारे! कि छब्बीस सौ वर्ष पहले गणधर भगवन्तों द्वारा रचित यह रचना मुझ तक पहुँची है। और मैं इसके उच्चारण के माध्यम से प्रभु के चरणों में वन्दन करूँगा।" आपकी भी आँखें भीग जाएँगी।



'विस्मयो योगभूमिका' का सूत्र साधना की अनेक परम्पराओं में प्राप्त होता है।

एक झेन (Zen) कथा याद आ रही है। एक शिष्य गुरु के पास गया, और वन्दन करके उनसे एक प्रश्न किया, "गुरुदेव! भगवान बुद्ध के चेहरे पर शान्तदशा और प्रशमरस कैसा होगा?"

गुरु एक पाट पर बैठे थे, और निकट ही एक खुली खिड़की थी। गुरु ने शिष्य की गर्दन पकड़ी और खिड़की से नीचे फेंक दिया। वहाँ से ६-७ फीट नीचे जमीन थी और जमीन पर रेत थी, इसलिए शिष्य को चोट लगने की सम्भावना नहीं थी। किन्तु थोड़ा झटका तो लगना ही था, कि गुरु ने मुझे खिड़की से क्यों फेंका? उसे आघात और आश्चर्य हुआ।

गुरु खिड़की के पास आए और नीचे झाँका। शिष्य नीचे गिरा था। गुरु ने पूछा, “बेटा! पता चला कि भगवान बुद्ध के चेहरे पर कैसा प्रशमरस होगा?” शिष्य बोला, “हाँ गुरुजी!”

वह खड़ा हुआ, वापिस गुरु के कक्ष में आया और गुरु के प्रति आभार व्यक्त किया।

इस दृष्टान्त में गुरु ने शिष्य को विस्मय के सहारे आगे बढ़ाया। गुरु ने पहले यह देखा कि शिष्य का प्रश्न जिज्ञासा की कक्षा तक का ही था, अर्थात् कॉन्सियस माइंड के स्तर का। इसलिए उत्तर देने का अधिक तात्पर्य नहीं बनता था। यदि वे उत्तर दे भी देते, तो शिष्य के भीतर तक नहीं उतरता, ऊपरी स्तर तक ही रहता। इसलिए गुरु ने उसे धक्का दिया... आश्चर्य सृजित हुआ। इससे कॉन्सियस माइंड सो गया, फिर गुरु ने खिड़की से झाँक कर अपना मुख बताया। गुरु के मुख पर स्थित अद्भुत शान्ति देखकर शिष्य को यह विचार आया, कि यदि गुरु के मुख पर ऐसी शान्ति है, तो भगवान बुद्ध के मुख पर तो कैसा अपार प्रशमरस होगा।

यह दर्शन आश्चर्य की पृष्ठभूमि पर था।



प्रभु का दर्शन तो आप रोज ही करते होंगे, किन्तु यह प्रक्रिया यन्त्रवत् हो रही है। इसी कारण प्रभु की निर्मलता एवं उनका अनुपम प्रशमरस आदि दृष्टिगोचर नहीं हो पाता।

प्रभु की निर्मल, अति-निर्मल दशा के दर्शन से हमारे भीतर आंशिक रूप से वही निर्मल दशा किस प्रकार प्रकट होती है, इस हेतु पूज्य देवचन्द्रजी महाराज ने परमतारक श्री सुमतिनाथ प्रभु की स्तवना में सात चरण बताए हैं। उनमें से प्रथम चरण है – आश्चर्य, विस्मय। “ताहरी शुद्धता भास आश्चर्यथी...”



इस सन्दर्भ में गुर्जिएफ के द्वारा किया गया एक रोचक प्रयोग याद आता है। एक साधक साँझ के समय गुर्जिएफ के पास आकर विनती करता है, “गुरुदेव! मुझे साधना की दीक्षा दीजिए।”

गुर्जिएफ तो दीक्षा देने के लिए तैयार थे, किन्तु उन्होंने देखा कि शिष्य इसके लिए तैयार नहीं था। शिष्य को तैयार करने का कार्य भी तो गुरु का ही होता है न!! तैयार हो तभी तो उसे परमरस दिया जा सकता है, पिलाया जा सकता है।

गुरु ने कहा, “इस कक्ष में ऊपर लगा लकड़े का बीम सुथार ठीक कर रहे थे, लेकिन उनके जाने का समय हो गया, इसलिए वे चले गए। तू ज़रा ऊपर चढ़कर उसे व्यवस्थित कर दे।”

साधक ऊपर चढ़ा और गुरु उसे नीचे से निर्देश देने लगे, “इस बीम को थोड़ा दायीं ओर करो”, “नहीं! ज्यादा हो गया, थोड़ा बायीं ओर करो”, “नहीं! अभी भी सीधा नहीं हुआ, वापिस दायीं ओर...” इस प्रकार गुरु काफ़ी देर तक बोलते गए, और शिष्य करता गया। इस प्रकार का नीरस काम करते-करते शिष्य थक गया और उसे निंद आने लगी। उसे झपकी लेते हुए गुरु ने देखा। वह ऊपर से नीचे गिर जाए, ऐसी स्थिति नहीं थी, इसलिए गुरु ने उसे १-२ मिनट निंद लेने दी। और फिर गुरु ने आवाज़ दी, “अरे! क्या कर रहे हो?”

उसने गुरु की ओर देखा, किन्तु उसका कॉन्सियस माइंड अभी भी सो रहा था। बस वह एक क्षण था गुरु के लिए। गुरु ने उसकी आँखों में झाँका, और साधक को मानो सब कुछ मिल गया।

यह क्या हुआ!!

आपको भी शायद ऐसा अनुभव हुआ होगा। किसी अन्य के घर आप मेहमान बनकर गए हों, रात के दो बजे लघुशंका के लिए उठे। कमरे में बिलकुल अन्धरा है और ज़रा भी पता नहीं चलता कि आप कहाँ हैं। इस क्षण को समझना साधना के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आप जग रहे हैं, किन्तु कॉन्सियस माइंड सो रहा है। कुछ तीस सेकण्ड में ही कॉन्सियस माइंड जागता है और आपको याद आता है, कि कल लघुशंका के लिए कहाँ गए थे, और अभी कहाँ हैं?

गुर्जिएफ़ ने भी यही मौका पकड़ा। साधक जगा, किन्तु उसकी विचारशक्ति सुषुप्त थी। गुरु ने देखा, और बस उसी क्षण गुरु ने उस पर शक्तिपात किया।

विस्मय की क्षणों में जो घटित होता है, वैसा ही कुछ यहाँ हुआ। कॉन्सियस माइंड अनुपस्थित है, किन्तु आप उपस्थित हैं।



अब बताइए! विस्मय की पृष्ठभूमि पर यदि प्रभु का दर्शन किया जाए तो वह दर्शन आपके द्वारा किया हुआ कहा जाएगा न! प्रभु का दर्शन!! प्रभु की निर्मल दशा का दर्शन!! “ताहरी शुद्धता भास आश्चर्यशी...”

तो, विस्मय प्रथम चरण हुआ।



दूसरा चरण है - रुचि... “ऊपजे रुचि...”

विस्मय की पृष्ठभूमिका में प्रभु की निर्मल दशा का दर्शन हुआ। अब यह निर्मल दशा साधक को भाने लगती है। ऐसा लगता है कि यह तो अत्यन्त सुन्दर घटना है।

आश्चर्य का रूपान्तरण अब चाहत में हो जाता है। यह चाहत, यह रुचि यह कार्य करती है, कि अन्य पदार्थों एवं व्यक्तियों के प्रति झुकाव नष्ट हो जाता है।

यह चाहत जब हृदय में स्थान बना ले, तब क्या होता है, इसका वर्णन महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज एक स्तवना में करते हैं, “पूरन मन सबि पूरन दिसे, नहि दुविधा को लाग...” प्रभु-प्रीति के कारण मन पूर्ण बना तो सब जगह, सब कुछ पूर्ण ही दिखाई देता है। प्रत्येक व्यक्ति में स्थित पूर्णता नजर आती है। आनन्द ही आनन्द!!

रुचि...

परम प्रीति...

इसी उद्देश्य से तो हमने यह जन्म लिया है। प्रभु का दर्शन हो, और आँखें भर आए। प्रभु! आपने ही तो मुझे यहाँ मनुष्यत्व के द्वार और भक्ति की चौखट तक पहुँचाया है। प्रभु! आपके इस ऋण से मुझे मुक्ति कैसे मिलेगी?

आज मैं छोटी से छोटी भी साधना करूँ, तो वह ऋणमुक्ति की ओर मेरा एक कदम होगा। इस भावदशा में की जाने वाली भक्ति को सकारण भक्ति कहा जाता है। इसके बाद निष्कारण भक्ति प्राप्त होती है। इसे भक्ति के लिए भक्ति - Devotion for devotion कहते हैं। वहाँ भक्ति करने का कोई कारण नहीं होता। प्रभुभक्ति के बिना रहा ही नहीं जाता, इस कारण और इस भाव से भक्ति की जाती है।

यदि कोई व्यक्ति दूध पी रहा है, तो शक्ति के लिए; किन्तु यदि हर दो घण्टे में एक बार चाय पी रहा है, तो क्यों? उससे पूछिए, वह कहेगा, “इसके बिना रहा नहीं जाता।”

निष्कारण भक्ति की धारा में भक्ति की प्रधानता रहती है। यदि मैं मोक्ष प्राप्ति के लिए भक्ति करता हूँ, तो मोक्ष प्रथम चाहत हुई, और भक्ति दूसरे क्रम पर आ जाएगी। किन्तु निष्कारण भक्ति में प्रथम क्रमांक पर सदैव भक्ति ही होती है।

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने स्तवना में कहा है, “मुक्तिथी अधिक तुज भक्ति मुज मन वसी, जेहसुं सबळ प्रतिबंध लागो...”





हम बात कर रहे हैं दूसरे चरण, अर्थात् रुचि की। प्रभु की परम निर्मलता अच्छी लगती है, प्रभु अत्यन्त प्रिय लगते हैं। “मेरे प्रभुसुं प्रकट्यो पूरन राग...”

प्रभु-प्रीति और प्रभुगुण प्रीति की यह धारा तीसरे तत्त्व, अर्थात् निर्मलता की प्राप्ति की इच्छा में परिणत होती है, “क्या मुझे भी ऐसी निर्मलता आंशिक रूप से मिल सकती है?”



यहाँ इच्छा तो है, किन्तु प्राप्ति अभी भी दूर है।

क्यों? क्योंकि जब तक यह इच्छा, तीव्र आकांक्षा में न बदले, तब तक प्राप्ति की अवस्था दूर ही रहेगी।

कई बार साधक प्रश्न करता है, “मैंने इच्छा तो बहुत की, किन्तु फिर भी न जाने क्यों, कार्य नहीं हुआ।” सामान्य इच्छा से कार्य की सिद्धि नहीं होती।

“ठीक है! कुछ मिले तो ठीक, नहीं तो बाद में, अगले भव में...” इस इच्छा से प्राप्ति नहीं होती।

प्रभु भी क्यों नहीं मिलते? इसका भी यही कारण है, ‘प्रभु ही चाहिए’ और ‘प्रभु तो चाहिए ही’ – जब तक यह भूमिका न हो, तब तक प्रभु-मिलन कैसे सम्भव है? आप जिस क्षण यह तय करते हैं, कि प्रभु तो चाहिए ही चाहिए, तो उस समय आपकी यह तैयारी भी होती है, कि इस हेतु मुझे जो भी करना पड़े, मैं वह करने के लिए तैयार हूँ। सद्गुरु से पूछूँगा, वे जो कहेंगे वह सब करूँगा। बस मुझे प्रभु की प्राप्ति होनी चाहिए।

एक युवक किसी सद्गुरु के पास गया, उसे प्रभु-मिलन की तीव्र उत्कण्ठा थी। उसने पूछा, “गुरुदेव! मुझे प्रभु कैसे मिलेंगे?”

सद्गुरु ने सुन्दर सा सूत्र दिया, “तुम मीटो तो मिलना हांय...” उस युवक ने “मैं” को परिधि में रखा, तो केन्द्र में प्रभु स्वतः आ गए।



हम बात कर रहे हैं उत्कट उत्कण्ठा की, तीव्र आकांक्षा। तीसरे चरण में सामान्य इच्छा थी, कि मुझे प्रभु की निर्मलता का आंशिक स्वाद मिले।

इसलिए चौथे चरण में इस इच्छा को तीव्र बनानी है। इस चरण को अत्यन्त रोचक नाम दिया गया है, ‘तत्त्वरंग’। निर्मलता की आकांक्षा रूपी तत्त्व से पूरा

अस्तित्व ही रंग जाए। सम्पूर्ण अस्तित्व इस निर्मलता की प्राप्ति के लिए उत्सुक है, और इस उत्कण्ठा की लहरों में पूरा अस्तित्व भीग गया है।

भक्तिमती मीरा की ये पंक्तियाँ याद आती हैं, “लाल न रंगाउँ, हरी न रंगाउँ, तेरे ही रंग में रंग दे चुनरिया...” और यह रंग अस्तित्व के स्तर पर जाना चाहिए, इसलिए इसकी प्रार्थना करते हुए मीरा आगे बढ़ती है, “ऐसा ही रंग दे, कि रंगना ही छूटे, धोबियां धुएँ चाहे सारी उमरिया...” प्रभु की भक्ति का रंग अस्तित्व के स्तर पर ऐसा चढ़ जाता है, कि राग-द्वेष के धोबी चाहे जितना प्रयास करें, पर वह रंग नहीं उतरता।



उत्कट उत्कण्ठा...

सम्पूर्ण अस्तित्व इस उत्कण्ठा में डूब चुका होता है।

एक प्राचीन घटना याद आती है। पासील नामक एक श्रावक व्यवसाय के लिए पाटण गाँव आया। श्रावक प्रभु-भक्त था, इसलिए पाटण के जिनालय में भक्ति करने गया। परमात्मा का बिम्ब बड़ा और सुहावना था, श्रावक तो प्रभु को देखकर नाचने लगा। आँखों में सावन-भादो बरसने लगे, गला रुंध गया।

प्रभु-भक्त चैतन्यदेव ने शिक्षाष्टक में लिखा है :

नयनं गलदश्रूधारया, वदनं गदगदरुद्धया गिरा।

पुलकैर्निचितं वपुः कदा, तव नामग्रहणे भविष्यति॥

प्रभु का नाम लेते हुए, प्रभु का दर्शन करते हुए भक्त की आँखें अश्रु बहाती हैं, गला रुंध जाता है और शरीर में रोमांच होता है।

भक्तियोगाचार्य श्री रामविजय महाराज स्तवना में कहते हैं, “सुणतां जनमुख प्रभुनी बात, हरखे मारी साते धात...”

कितनी अतुल्य बात कही!!

प्रभु की बात सुनते ही, उनका नाम कानों में जाते ही शरीर का एक-एक अंग, रक्त, मांस, मज्जा और हड्डियों तक सुख की अनुभूति होती है।



पासील की भक्ति भी ऐसी ही थी। भगवान का बिम्ब बहुत बड़ा था, तो उसने विचार किया कि प्रभु कितने बड़े हैं, ज़रा माप तो लेकर देखूँ। अपनी बेंत से वह प्रभु को मापने चला।

इतने में हांसी नामक श्राविका वहाँ आई, वह पासील को जानती थी, तो उसने पूछा, “पासीलभाई! क्या आपको भी इतनी बड़ी प्रतिमा बनवानी है?”

पासील की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी, किन्तु वह बोला, “बहन! इतना बड़ा बिम्ब बनवाना है, मात्र यही इच्छा नहीं है, उन प्रभुजी के लिए एक भव्य जिनालय बनाने की भी अभिलाषा है।”

पासील अपने घर आरासुर नगरी लौटा। उसकी आकांक्षा तीव्र होती गई, और उसकी आर्थिक स्थिति भी वृद्धिमान हुई। पासील ने एक भव्यातिभव्य जिनालय बनवाया, उतने ही बड़े प्रभुजी को स्थापित किया और प्रभु की प्रतिष्ठा बहन हांसी के हाथों करवाई।

वह जिनालय आज का विख्यात कुम्भारियाजी तीर्थ में नेमिनाथ भगवान का भव्य जिनालय है।



तीव्र उत्कण्ठा।

प्रभु की निर्मल दशा का अंश मुझे कब मिलेगा... कब मिलेगा... क...ब...! मुझे मात्र वही चाहिए, वही चाहिए!!

इस उत्कट उत्कण्ठा के सन्दर्भ में सन्त कबीर एक अच्छी बात कहते हैं, “सब तन श्रवणा...” प्रभु के गुणों को सुनने की अदम्य आकांक्षा का क्या परिणाम आता है? यह मात्र कानों को ही झंकृत नहीं करती, अपितु “सब तन श्रवणा...” पूरा शरीर ही कान बन जाता है।



तीव्र आकांक्षा।

भक्तिमती मीरा की प्रभु-प्राप्ति की उत्कण्ठा तीव्र तड़प में रूपान्तरित हुई। मीरा ने प्रभु से कहा, “तड़फ तड़फ जीव जासी...” हे प्रभु! आप कितना तड़पाएँगे? तड़प-तड़प कर मेरे प्राण निकल जाएँगे। यह तड़पन ही प्राप्ति दिलाती है।

पूज्यपाद आनन्दघनजी भगवन्त ने भी कहा, “आनंदघन बिन प्राण न रहे छिन, कोटि जतन करी लीजे...” प्रभु! आपके बिना क्षण मात्र के लिए भी मेरे प्राण नहीं रहेंगे। तीव्र आकांक्षा, और प्राप्ति निश्चित है।

भक्तकवि सूरदासजी को लगा कि रूप की राशि परमात्मा को मात्र दो आँखों से कैसे देखा जा सकता है? प्रभु-दर्शन की अनगिनत समय की प्यास की तृप्ति मात्र

दो आँखों से हुए दर्शन से कैसे सम्भव है? उन्होंने प्रभु से प्रार्थना की, “लोचन रोम रोम प्रति मांगूं...” हे प्रभु! मेरी इच्छा है, कि मेरे रोम-रोम में नयन हो... ।

तीव्र उत्कण्ठा... यह है चौथा चरण।



पाँचवाँ चरण है - अपने दोषों को कोसना, दोषों के प्रति व्यथा। निर्मल दशा की चाहत है, उत्कट उत्कण्ठा भी है, किन्तु इसका प्रतिफल तो दोष और अशुद्धि की भर्त्सना के रूप में ही होगा न!!

न आसक्तिजन्य अशुद्धि एवं दोष स्वीकार्य हैं, न द्वेषजन्य अशुद्ध परिणति और न ही अहंकारजन्य वैभाविक दशा।



भक्त के स्तर पर आपके पास यह दृष्टिकोण हो सकता है कि, “जो प्रभु को अच्छा लगे, वही मुझे अच्छा लगता है; जो प्रभु को पसन्द नहीं, वह मुझे भी पसन्द नहीं। यदि मुझ में दोष हैं, तो क्या वे प्रभु को अच्छे लगेंगे? न, बिल्कुल नहीं।” यहाँ स्वदोषों के प्रति भर्त्सना हुई।



एक सूत्र है, कि दोषों को कोसने से दोष नष्ट होते हैं। एक और सूत्र है, कि गुणों को चाहने से उनकी प्राप्ति होती है।

अनेक बार आपको ऐसा लगता होगा कि आप गुणानुरागी हैं। किन्तु एक बार पड़ताल कर लेनी चाहिए कि यह मात्र एक भ्रम तो नहीं है न?

अनेक बार देखने में आता है, कि किसी साधक को किसी व्यक्ति के गुण अच्छे लगे; किन्तु गहराई में जाँच करने पर पता चला कि उसे वह व्यक्ति अच्छा लगता है, इसलिए उसके गुण अच्छे लगे। अब वह व्यक्ति उस साधक को क्यों अच्छा लगा? हो सकता है कि वह व्यक्ति उस साधक के अहंकार को पीठबल देता हो।

तो यह गुणानुराग था या अहंकारानुराग?



गुणानुराग की एक रोचक घटना याद आती है। पालनपुर के एक साधक थे। उनके मित्र के युवा पुत्र ने मुम्बई में सोलह उपवास की तपस्या की। पंचमी को

उसका पारणा था। साधक के पास पारणे की पत्रिका आई, किन्तु साधक खुद चौसठ प्रहरी पौषध में थे और पर्युषण के बाद चरघोड़े, चैत्य-परिपाटी, बहुमान आदि कार्यक्रम थे। इसलिए उन्होंने विचार किया कि एक हफ्ते के बाद वे उससे मिलने जाएंगे। १०-१२ दिन बाद मुम्बई गए। रात को ९ बजे मुम्बई पहुँचे और १० बजे मित्र के घर पहुँचे।

वह युवक कहीं नौकरी करता था, इसलिए नौकरी से घर आते-आते उसे भी रात के पौने-दस हो जाते थे। वह रात को दस बजे डाइनिंग टेबल पर खाना खाने बैठा।

उधर वह साधक उस तपस्वी की सोलह उपवास की शाता पूछने आए थे, और इधर वह रात को दस बजे गर्मागर्म खाना खा रहा था।

मित्र ने साधक को सोफे पर बिठाया। थोड़ी ही देर में वह युवक खाना खाकर उनके पास आया। साधक की आँखें भीग गईं। उन्होंने भावुक होकर कहा, “वाह! तुमने कितनी सुन्दर तपस्या की!! प्रभु की कृपा अद्भुत है, गुरुदेव के द्वारा दिया पच्चक्खाण और तुम्हारा संकल्प, कि यह तपस्या तुमने की।” उन्होंने उस युवक की हृदयपूर्वक अनुमोदना की। इस अनुमोदना के पीछे गुणानुराग था। उन्होंने विचार किया, कि यह युवक सुबह नाश्ता करके घर से निकलता होगा, बीच में चाय पीता होगा, ऑफिस में लंच के समय घर से लाया टिफिन करता होगा, दोपहर को चाय या फ्रूट का हल्का नाश्ता करता होगा। फिर भी इसे रात को भूख लगती है, इसलिए खाता है। ऐसे युवक ने सोलह उपवास की तपस्या की!! वाह! यह तो सचमुच अनुमोदना का पात्र है।

गुलाब के फूल और कांटों का तो रोज का साहचर्य होता है। कोई गुलाब को कांटों से बिंधा देखकर शायद पसन्द न करे, इतने कोमल गुलाब और इतने तीक्ष्ण कांटे!! किन्तु यदि कोई कांटों में गुलाब देखे तो? कितना आनन्द हो!!

हमें इसी सकारात्मक दृष्टिकोण की ओर जाना है।



“दोषशी ऊभग्यो...” यह पाँचवाँ चरण है। अब पूरा दृष्टिकोण बदल चुका है। अब दूसरों में मात्र गुण ही दिखाई देते हैं और खुद में दोष। जब अन्य में दोष दिखते थे तब दोषयुक्त व्यक्ति पर द्वेष उत्पन्न होता था। किन्तु जब खुद में दोष दिखते हैं, तो उन्हें दूर करने का मन होता है।



मैं जब १२-१३ वर्ष का था और दीक्षा लिए कुछ एक वर्ष हुआ, तब जूनाडीसा में हम रुके हुए थे। दादा गुरुदेव पूज्यपाद भद्रसूरीश्वरजी महाराजा के उपनिषद् में मुझे बैठने का सौभाग्य मिलता था। दादा गुरुदेव अत्यन्त वात्सल्य बरसाते थे।

एक बार मैं दादा गुरुदेव के पास बैठा था, एक भक्त वन्दन करने के लिए आया। दादा को वन्दन करके मेरे पास बैठा। बात-बात में मुझसे बोला कि अमुक भाई बाहर से दिखने में धार्मिक है, किन्तु अन्दर तो पोलंपोल है। मैं भी उसकी हवा में बह गया। मैंने कहा, “हाँ! मैंने भी सुना है, ऐसा किसी को भी नहीं करना चाहिए।”

उस भाई के जाने के बाद दादा गुरुदेव ने मुझे अपने पास बुलाया, मेरे सिर पर हाथ फिराते हुए बोले, “बेटा! दीक्षा से पहले तू व्यापारी का बेटा था न! व्यापारी का बेटा कभी नुकसान का धन्धा करता है?” मैंने कहा, “नहीं”, तो वे बोले, “वह भाई किसी की निन्दा कर रहा था, वह तो गृहस्थ है; किन्तु तू तो प्रभु का साधु है। क्या साधु निन्दा कर सकता है? दूसरा, निन्दा करने से हमारा नुकसान होता है न! प्रभु की आज्ञा की विराधना होती है, किसी के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है, कितना नुकसान है!! अब कभी भी किसी की भी निन्दा मत करना।”



छठा चरण - दोषों का त्याग।

दोषों की भर्त्सना करने से उनका निवारण हुआ।

दोषों से व्यथित होने पर एक जागृति आती है कि मेरे भीतर कोई भी दोष नहीं होने चाहिए।

यह जागृति क्या करती है, यह देखना बड़ा ही मजेदार है। आप चाय पी रहे हैं। शायद आपका संज्ञा-प्रभावित मन आसक्ति की ओर जाए, किन्तु यदि उसी समय जागृति आ जाए तो मन आसक्ति में लिप्त नहीं होगा। मात्र द्रष्टाभाव रहेगा।

जागृति के कारण कर्म के उदय में जुड़ाव नहीं होगा। यदि उदय में चेतना चली गई तो फिर बन्ध ही बन्ध होगा, और वही चेतना यदि स्व के साथ जुड़ी तो निर्जरा ही निर्जरा होगी।

‘समयसार’ में कुन्दकुन्दाचार्यजी इसी लय में कहते हैं, “कोहे कोहो...” क्रोध हुआ होगा क्रोध को... मुझे क्या? मैं तो स्व में ही हूँ।





दोषों की भर्त्सना करने पर उनका नाश होता है, इस हेतु साधना की एक विपदी बताई गई है, “आन्तरिक-निरीक्षण, संकल्प एवं जागृति।”

रात्रि समय में आन्तरिक निरीक्षण कीजिए कि दिन में कोई दोष लगा कि नहीं? किसी व्यक्ति पर क्रोध किया होगा, तो तुरन्त यह भी विचार आएगा कि क्या गुस्सा करना जरूरी था? हंसते हुए या प्रेम से उसे समझाया होता तो क्या अच्छा नहीं रहता?

आन्तरिक-निरीक्षण के कारण यह दोष पकड़ में आता है, अब दूसरा पद है कि संकल्प करना है कि कम से कम अगले एक हफ्ते तक गुस्सा नहीं करना। यदि ऐसी परिस्थिति आती भी है तो तुरन्त जागृति आणी और आपको रोकेगी।



अन्तिम चरण है, राग-द्वेष आदि दोषों की शिथिलता के कारण आन्तरिक निर्मलता की प्राप्ति। “ढूँढे तत्त्व लिहे”, शुद्धि रूपी तत्त्व के आस्वादन से साधक भी शुद्ध हो जाता है।

## १. सारांश

स्वानुभूति में प्रवेश हेतु पूज्य देवचन्द्रजी महाराज के कथनानुसार ‘पा’ का अनुभव छोड़ना है। (पुद्गल अनुभव त्याग), अर्थात् राग, द्वेष, अहंकार आदि को शिथिल करना है।

इन दोषों को शिथिल करने का एक मार्ग पूज्य देवचन्द्रजी महाराज ने परम तात्त्विक श्री सुमतिनाथ भगवान की स्तवना में दिया, “पहले तो प्रभु की अद्वितीय निर्मल दशा को देखकर विस्मय होता है, फिर यह विस्मय, रुचि में रूपान्तरित होता है। इस रुचि से साधक को यह इच्छा होगी कि मुझे भी ऐसी निर्मलता का अंश चाहिए। यह इच्छा तीव्र बनेगी, उत्कण्ठा की तीव्रता से राग-द्वेष आदि दोषों के प्रति अपराध बोध आएगा। इससे दोष शिथिल होंगे और आत्मनिर्मलता आंशिक रूप से प्रकट होगी।”



## 2. स्वानुभूतिवान साधक की जीवनशैली

आधारसूत्र

तुमे प्रभु! जाणंग रीति, सर्व जग देखता हो लाल,  
निज सत्ताए शुद्ध सहुने लेखता हो लाल;  
पर परिणति अद्वेषपणे उवेखता हो लाल,  
भोग्यपणे निजशक्ति अनंत गवेषता हो लाल... ८/२

हे प्रभु! आप ज्ञाताभाव से सम्पूर्ण जगत को देखते हैं। समस्त द्रव्यों को आप स्व-सत्ता से परिपूर्ण रूप में देखते हैं। और यदि किसी आत्मा में कर्मवश रागादि की परिणति दिखे, तो आप उसकी उपेक्षा करते हैं। और साथ ही आप परमानन्द स्वरूप निज-शक्ति का भोग करते हैं। साधक के लिए ये सूत्र इस प्रकार कार्य करते हैं:

1. समस्त पदार्थों को साधक ज्ञाताभाव से देखता है।
2. साधक सभी आत्माओं को अनन्त गुणों से युक्त देखता है।
3. यदि किसी आत्मा में राग, द्वेष, अहंकार आदि दिखे, तो साधक ऐसा मानता है कि ये तो कर्मवश उत्पन्न हुए विकार हैं, क्योंकि आत्मा तो सदैव शुद्ध ही होती है।
4. साधक सतत स्व-गुणों में रमण करता है।

\*\*\*



पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री चन्द्रशेखरविजयजी महाराज एक बार सूरत में किसी भक्त के गृहांगन में पधारे; मांगलिक, प्रवचन आदि हुआ; सब लोग यथास्थान लौट गए।

भक्त का बंगला बहुत बड़ा था, और उसमें अत्यन्त श्रेष्ठ कलात्मक फर्नीचर बना हुआ था। भक्त बोला, “गुरुदेव! लकड़ी की एक-एक कुर्सी बनाने में कारीगर महीनों तक काम करते थे। कितनी महीन कारीगरी है।” गुरुदेव सुनते रहे, थोड़ी देर बार खड़े हुए और कुर्सी को देखने लगे। भक्त बोला, “साहेबजी! है न बेहतरीन कारीगरी!!” गुरुदेव धीरे से बोले, “मैं तो देख रहा हूँ कि यदि तू मर कर कीड़े के रूप में जन्म ले, तो इनमें से कहाँ पर पैदा होगा?” फिर उसे समझाते हुए गुरुदेव बोले, “तू गृहस्थ है, सांसारिक जीवन में कुछ न कुछ चलता रहता है, ठीक है, किन्तु इसमें इतनी आसक्ति? यह आसक्ति नहीं चलेगी।”

भक्त को सब कुछ समझ आ गया; वह बोला, “गुरुदेव! आपने मेरी आँखें खोल दी। बस, अब आपकी कृपा से मुझे पदार्थों में कोई आसक्ति न रहे, ऐसा वरदान दीजिए।”



पदार्थ, पदार्थ है; वह न तो अच्छा है, न ही बुरा। साधक को यहाँ मात्र उसका उपयोग करना है। कुर्सी पर बैठना पड़ेगा, इसलिए कुर्सी चाहिए, न हो तो टेबल भी चलेगी। किन्तु कुर्सी क्रीम रंग की होनी चाहिए, या लाल रंग की, इस सम्बन्ध में साधक कोई विचार नहीं करता।



विद्वद्भ्य आचार्य श्री शीलचन्द्रसूरिजी ने विख्यात पुरातत्त्वविद्वान मधुसूदन ढाकी के जीवन की घटना बताते हुए कहा, “मधुसूदन भाई को आभूषणों का बहुत शौक था, किन्तु जीवन के अन्तिम दिनों में वे सबको अपने आभूषण बांटने लगे। जब मैंने इसका कारण पूछा, तो वे बोले, कि महाराज! जीवन की नैया अब छूटने वाली है। मैं नहीं चाहता कि ऐसा एक भी पदार्थ मेरे आस-पास रहे जिसके प्रति मुझे आसक्ति हो। जीवन नैया छूटते समय मेरे मन में मात्र प्रभु ही होने चाहिए।”



पदार्थों के संसार के प्रति मात्र ज्ञाताभाव हो, साधक इसी धारा में आगे बढ़े। महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज सवा सौ गाथा के स्तवन में कहते हैं, “ज्ञायकभाव जे एकलो, ग्रहे ते सुख साधे...”

ज्ञाताभाव, अर्थात् जब ज्ञेय को जानना हो, तब भी उसमें पसन्द-नापसन्द का भाव न रहे। पदार्थ, पदार्थ है; उसमें अच्छाई और बुराई का विचार करना तो समाज-प्रभावित मन की देन है। साधक के लिए तो है, मात्र ज्ञाताभाव।



साधक की जीवन-शैली में जिस प्रकार जड़-जगत के प्रति ज्ञाताभाव है; वैसे ही चेतन-जगत के प्रति मैत्री-भाव होता है।

साधक प्रत्येक आत्मा में अनन्त गुण देख सकता है। श्रीपालकुमार ने धवलसेठ में क्या देखा? मैंने कुछ ही समय पहले एक संगोष्ठी में भाविकों को पूछा, “धवलसेठ को जब राज कर्मचारी कैद करके ले जा रहे थे, तब श्रीपाल ने कहा, कि ‘नहीं! इन्हें छोड़ दो, ये तो मेरे उपकारी हैं।’ तो धवलसेठ का श्रीपाल पर क्या उपकार था?”

लगभग सबका एक ही जवाब था, “सेठ के जहाज में श्रीपाल गए थे।” मैंने पूछा, “वह तो ठीक है, और कोई उपकार?”

यहाँ अत्यन्त अद्भुत बात आती है। श्रीपाल को लगा कि स्वानुभूति के सिवाय कल्याण होना सम्भव नहीं है। अब मैं स्वानुभूति के निकट हूँ कि नहीं, यह तो ज्ञानी गुरुदेव ही बता सकते हैं। किन्तु यदि मुझमें समभाव है, तो मैं यह अनुमान लगा सकता हूँ कि मैं स्वानुभूति के समीप हूँ।

अब हुआ यह, कि एक बार धवलसेठ ने श्रीपाल को जहाज से धक्का देकर समुद्र में गिरा दिया था। श्रीपाल जैसे-तैसे किनारे तक पहुँचा। उधर धवलसेठ का जहाज बन्दरगाह पहुँचा और सेठ वहाँ के राजा से व्यापार की अनुमति लेने के लिए गया। वहाँ वह श्रीपाल को देखकर घबराया, “ये यहाँ कैसे? मैंने तो इसे समुद्र में फेंक दिया था। ये तो यहाँ का राज्याधिकारी बन गया।”

किन्तु सेठ को देखकर श्रीपाल को लेश मात्र भी द्वेष या क्रोध नहीं हुआ। उसकी भृकुटी जरा भी नहीं तनी। उसे लगा कि मुझमें समभाव है। किन्तु मेरे समभाव की परीक्षा तो इस धवलसेठ ने की। इसलिए ये तो मेरे गुरु हुए, और गुरु तो उपकारी ही होते हैं।

अब यदि इस बात पर विचार किया जाए तो ऐसा लगता है कि श्रीपाल अत्यन्त श्रेष्ठ कक्षा में थे। गुरु तो उपकारी होते ही हैं। श्रीपालजी इससे भी आगे बढ़े हैं। उनमें चैतन्य के प्रति अत्यन्त आदर भाव था। “Reverence for the life”, धवलसेठ के अनन्त गुणों को श्रीपाल ने देखा।



सामान्य साधक को शायद किसी के दोष दिखाई दे सकते हैं, “यह व्यक्ति क्रोधी है, वह अहंकारी है।” अन्य में यदि दोष दिखें, तो इसका कारण हमारी दोषदृष्टि है। मेरे चश्मे के कांच खराब होंगे, तो मुझे सामने वाले के कपड़े खराब ही दिखेंगे। ऐसे समय में क्या करना चाहिए? बहुत आसान है, अपने चश्मे के कांच साफ़ कर लेने चाहिए।

यह बात जब साधक की जीवनशैली में प्रवेश करेगी, तब साधक की दोषदृष्टि का रूपान्तरण गुणदृष्टि में हो जाएगा।

एक और दृष्टिकोण देता हूँ, किसी को बुखार आया हो, तो बुखार खराब है; जिसे बुखार आया, वह व्यक्ति तो खराब नहीं है न!! ठीक ऐसा ही यहाँ भी मानना चाहिए, कि अन्य के दोष खराब हैं, दोषी व्यक्ति खराब नहीं है। और क्या मुझमें कोई दोष नहीं है?

अब कितना अच्छा लगेगा!!

परमपावन दशवैकालिक सूत्र में प्रभु की एक आज्ञा इस प्रकार बताई है, “वत्स! तू समस्त प्राणियों का मित्र बन।” साधक कहता है, “प्रभु! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, किन्तु प्रभु! सबका मित्र कैसे बना जा सकता है?” तो प्रभु अत्यन्त सरल मार्ग बताते हैं, “तू सभी आत्माओं को सम्यक् दृष्टि से देख।”

जब साधक को पता नहीं चलता कि सभी आत्माओं को सम्यक् दृष्टि से देखने का क्या तात्पर्य है? तो सद्गुरु उसे समझाते हैं कि, “वत्स! अब तक तेरी दृष्टि यह थी कि जो मेरे अहंकार को पाले, मुझे अच्छा कहे, बस वे लोग ही अच्छे हैं; जो मुझे खराब कहते हैं वे लोग खराब हैं। तूने अब तक इस भ्रामक मान्यता के मापदण्ड से ही सभी आत्माओं को देखा है। तू अपनी इस भ्रामक दृष्टि को छोड़, और प्रत्येक आत्मा में स्थित सिद्धतत्त्व को देख।”



प्रभु की और सदगुरु की यह वाणी जब साधक आत्मसात् करता है तो साधक समस्त आत्माओं का मित्र बन जाता है।



साधक की जीवनशैली अब पूर्ण आन्तरिक वैभव का आनन्द लेने के लिए आगे बढ़ती है। भीतर मात्र आनन्द है, साक्षीभाव आने के कारण अब कोई भी घटना ऐसे घटित हो, या वैसे, आन्तरिक स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

परम तारक श्री सीमन्धर प्रभु से सौधर्मेन्द्र ने पूछा, “भगवन्! भरत क्षेत्र में अभी ज्ञानी पुरुष कौन है?” प्रभु ने पूज्य देवचन्द्रजी का नाम कहा। सौधर्मेन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण करके जहाँ पूज्य देवचन्द्रजी महाराज थे, वहाँ गए। उस समय पूज्यश्री का प्रवचन चल रहा था। ब्राह्मण बने सौधर्मेन्द्र सबसे पीछे जाकर बैठ गए। पूज्यश्री ने अपनी लब्धि से उनको पहचान लिया, किन्तु उन्होंने प्रवचन की शैली नहीं बदली। सौधर्मेन्द्र को प्रभावित करने का कोई प्रयास या विचार नहीं किया।

प्रभु से प्रभावित व्यक्ति को न तो अन्य को प्रभावित करने का विचार आता है और न ही वह किसी अन्य से प्रभावित होता है। उसकी जीवन यात्रा सहज रूप से आगे बढ़ती है। यह साधक की मजेदार जीवनशैली है।

## २. सारांश

साधक की जीवनशैली में मुख्यतः तीन बातों का समावेश होता है:

जड़-जगत के प्रति उसके पास ज्ञाताभाव है, इससे कोई भी पदार्थ उसे अच्छा या बुरा नहीं लगता, इसलिए उसे किसी पदार्थ के प्रति राग-द्वेष नहीं होता। प्रत्येक आत्मा में स्थित अनन्त गुणों को वह देखता है, इससे प्रत्येक आत्मा के प्रति मैत्री-भाव प्रकट होता है। इस कारण साधक की आन्तरिक दशा जीव-द्वेष आदि से मलिन नहीं होती।

साक्षीभाव आदि गुण प्रकट होने के कारण आन्तरिक दशा सदैव प्रसन्न रहती है।





### 3. अनुभूति का साक्षात्कार

**आधारसूत्र** आदर्यु आचरण लोक उपचारथी,  
शास्त्र अभ्यास पण कांई कीधो;  
शुद्ध श्रद्धान वली आत्म अवलंब विण,  
तेहवो कार्य तिणे को न सीधो... २४/३

प्रभु के द्वारा निर्दिष्ट अमृत अनुष्ठान (जैसे सामायिक, प्रतिक्रमण आदि) किए, किन्तु ये सब प्रभु की आज्ञा के अनुसार नहीं किए। शास्त्राभ्यास किया, किन्तु उन शब्दों का अन्तर्मन तक स्पन्दन नहीं हुआ। शुद्ध श्रद्धा एवं आत्मगुणों के आलम्बन के बिना ये सब कार्य किए, फलतः ये सार्थक नहीं हुए।

[अमृत अनुष्ठान प्रभु की आज्ञानुसार एवं शास्त्राभ्यास अन्तःस्पर्शपूर्वक होना चाहिए। इस प्रकार शुद्ध श्रद्धा एवं आत्मगुण (जैसे ज्ञान, दर्शन आदि) के आलम्बन से अनुष्ठान तथा शास्त्राभ्यास सार्थक बनता है।]

\*\*\*



धरणाशा श्रेष्ठी राणकपुर तीर्थ के निर्माणाधीन महाप्रासाद में मुख्य शिल्पकार के साथ घूम रहे थे। श्रेष्ठी ने अद्भुत शिल्पकला देखकर संतुष्टि अभिव्यक्त की।

शिल्पकार चाहते थे कि श्रेष्ठी की मूर्ति प्रभु के दरबार में स्थापित हो। उसने यह बात कही, तो श्रेष्ठी बोले, “मेरी मूर्ति प्रभु के दरबार में बनाकर रखी जा सकती है, किन्तु इसमें मेरी तीन शर्तें हैं - एक, मूर्ति एकदम छोटी हो; दूसरी, मूर्ति पर प्रभु की सतत दृष्टि पड़नी चाहिए; और तीसरी, किसी और की दृष्टि मूर्ति पर नहीं पड़नी चाहिए।”

वैसा ही हुआ।

मैंने भी वह मूर्ति तब देखी जब गाइड ने मुझे दिखाई। मैं अहोभाव से भर उठा। मन में विचार उठा कि, “धरणाशा! आपने तो साधनामार्ग के अनेक आयाम खोल दिए हैं।”

अपनी साधना साधक को सदैव छोटी ही लगनी चाहिए। उस साधना पर प्रभु की अनवरत दृष्टि जानी चाहिए। अर्थात् वह साधना प्रभु के द्वारा प्रमाणित होनी चाहिए। और लोगों की नजर उस साधना पर न जाए। क्योंकि यदि किसी ने प्रशंसा की, और अहंकार आ गया तो?



एक के बाद एक, इन तीन बातों पर विचार करते हैं।

पहली बात, खुद की साधना साधक को छोटी लगती है। इसका कारण यह है कि साधक यह बात भली-भांति समझता है कि साधना पर तो प्रभु का स्वामित्व होता है। महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज कहते हैं, “तुं गति...” हे प्रभु! साधना मार्ग में आप ही मेरी गति हैं। प्रभु की कृपा के बिना साधना के मार्ग पर एक इंच, एक सेंटीमीटर भी नहीं चल सकते।

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज पार्श्वनाथ प्रभु की स्तवना में कहते हैं, “इतनी भूमि प्रभु तुम हि आण्यो...” हे प्रभु! मनुष्य जीवन तक, साधना के इस मार्ग तक आपने ही मुझे पहुँचाया है।

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य ‘वीतराग स्तोत्र’ में कहते हैं :

‘भवत्प्रसादेनैवाहमियतीं प्रापितो भुवम्...’

मात्र और मात्र प्रभु की कृपा से ही साधना मार्ग पर चला जा सकता है।



एक संगोष्ठी में किसी भावक ने मुझसे पूछा, “गुरुदेव! प्रभु ही हमें साधना-मार्ग में आगे ले जाते हैं, यह कैसे मानें?”

मैंने एक उदाहरण दिया, कि किसी व्यक्ति को कोई असाध्य दर्द हुआ; अनेक डॉक्टर, वैद्य सबको दिखाया; किन्तु दर्द जाने का नाम नहीं ले रहा था। फिर कोई अनुभवी वैद्य मिले, उन्होंने छः महीने तक दवा दी, तब जाकर दर्द ठीक हुआ। वह व्यक्ति स्वस्थ हुआ तो शरीर भी बनने लगा। किसी मित्र ने उसे देखा तो देखकर प्रसन्न हुआ। मित्र ने पूछा, “इतने स्वस्थ लग रहे हो, क्या राज है?” उसने कहा, “वैद्य की दवा से...”

क्रेडिट किसे मिला? वैद्य को ही न! दवा ली किसने? परहेज किसने रखा? किन्तु नहीं, यदि वैद्य ही मिले न होते तो?

ठीक इसी प्रकार प्रभु के द्वारा दिखाया गया साधना का मार्ग ही नहीं मिला होता तो?

इस सन्दर्भ में साधक को अपनी साधना छोटी लगती है। हमारे यहाँ साधना का समीकरण कुछ ऐसा है - ९९% कृपा, १% प्रयास।

एक बार साधक समर्पित हो गया, समर्पण का गुण उसमें आ गया, बाकी का कार्य प्रभु और सद्गुरु कर देंगे।



दूसरी बात, साधना प्रभु के द्वारा प्रमाणित होनी चाहिए।

प्रभु हमारी साधना कैसे प्रमाणित करेंगे?

जब साधना-पथ पर चलते-चलते साधक के राग, द्वेष, अहंकार आदि शिथिल हो जाए तब।

तो, एक साधक के रूप में एक बार स्वयं का आन्तरिक निरीक्षण करना आवश्यक है कि राग-द्वेष आदि शिथिल हो रहे हैं कि नहीं।



तीसरी बात, आपकी साधना गुप्त रहनी चाहिए। किसी को पता चलना अलग बात है, किन्तु आपका प्रयास यही होना चाहिए कि इसका प्रदर्शन न हो। किसी को पता चला, तो वह अनुमोदना के रूप में प्रशंसा करेगा, इससे अहंकार आ गया तो...?

हिम्मतभाई बेड़ावाला जैसे प्रखर साधक भी आयम्बिल की बड़ी से बड़ी ओळी में भी आयम्बिल अपने घर पर ही करते थे। उत्कृष्ट साधक की जागृति भी कितनी उत्कृष्ट होती है? सबके साथ करें तो शायद कोई अनुमोदना के स्वर में प्रशंसा कर दे कि, 'अहो! इतने बड़े तपस्वी मात्र १-२ द्रव्य से आयम्बिल करते हैं।' ऐसी प्रशंसा के कारण कहीं साधना-मार्ग से भटक न जाएँ, इस बात की सतत जागृति रहती है।



साधना की गहराई के साथ स्वाध्याय की गहराई भी होनी चाहिए।

यह गहराई कैसे प्राप्त होगी?

मैं परम पावन आचारांग सूत्र का स्वाध्याय प्रति वर्ष करता हूँ। किन्तु एक बार महाभारत की एक घटना पढ़ने के बाद आचारांग में वर्णित प्रभु की मोहक वाणी पढ़ने का मेरा दृष्टिकोण ही बदल गया।

उद्धवजी रथ में बैठकर वृन्दावन आए। रथ देखकर सारी गोपियाँ वहाँ आईं, और रथ को घेर कर खड़ी हो गईं। रथ का द्वार खुला, और उद्धवजी बाहर निकलकर गोपियों से बोले, “निराश मत हो, आज श्रीकृष्ण स्वयं नहीं आ सके, किन्तु उन्होंने आप सबके लिए एक सुन्दर पत्र लिखकर भेजा है। लीजिए, पढ़ लीजिए।”

एक भी गोपी पत्र लेने के लिए आगे नहीं आई, तो उद्धवजी विचार में पड़ गए, कि श्रीकृष्ण के नाम पर मर मिटने वाली ये गोपियाँ पत्र लेने आगे क्यों नहीं बढ़ रहीं?

गोपियों की उस समय की मनोदशा का वर्णन सूरदासजी एक सुन्दर पद में करते हुए कहते हैं, “परसे जैरे...” गोपियों को लगता है कि वे श्रीकृष्ण के विरह में झुलस रही हैं, सबके शरीर में विरह की तीव्र अग्नि जल रही है, यदि इस पत्र को हाथ भी लगाया तो ये जल जाएगा।

ठीक है, हाथ मत लगाओ; किन्तु पास जाकर पढ़ तो लो? किन्तु नहीं! कोई भी गोपी उद्धवजी के पास जाकर उस पत्र को नहीं पढ़ती।

क्यों?

सूरदासजी कहते हैं, “बिलौके भीजे...” यदि हम इस पत्र को पढ़ने जाएँगी तो पढ़कर आँखों से अश्रुओं की धारा बहने लगेगी। उस धारा से श्रीकृष्ण के द्वारा लिखे अक्षर भी बह जाएँगे।

कैसी अलौकिक भावदशा थी गोपियों की!!



उपरोक्त घटना पढ़कर मेरी भी आँखें भर आईं, और फिर श्री आचारांग सूत्र का स्वाध्याय भी भीगी आँखों से ही हुआ।

यह भीगा हुआ स्वाध्याय ही स्वानुभूति में परिणत हुआ।



साधना और स्वाध्याय की यह गहराई प्राप्त करने की पृष्ठभूमि में दो परिबल कार्य करते हैं; एक श्रद्धा, और दूसरा, आत्मगुणों का आलम्बन।



श्रद्धा...

एक क्रम है - विश्वास, आस्था और श्रद्धा।

किसी विषय का विशेषज्ञ, उस विषय पर कुछ कहे, तो उसकी बात पर भरोसा करना विश्वास हुआ। जैसे, किसी कच्चे रास्ते पर कोई चल रहा हो, और आगे दोगहा आए, तो उसे पता नहीं चलेगा कि किस ओर जाना है। तो वह व्यक्ति पास के खेत में हल चलाते किसान से रास्ता पूछेगा। अब उस किसान के द्वारा बताए गए रास्ते पर जाना ही विश्वास है।

हमारे ज्ञानी महापुरुषों ने जो बातें बताई, उन पर हृदय की गहराई और भक्ति से विश्वास करना आस्था कहलाता है।

और उन महापुरुषों के द्वारा बताए गए तत्त्वों पर अनुभूतिमूलक आस्था रखना श्रद्धा कहलाता है।



आत्मा के आनन्द आदि गुणों की आंशिक अनुभूति श्रद्धा है और इन्हीं गुणों की विशेष अनुभूति, आत्मगुण का आलम्बन कहलाता है।

इस श्रद्धा और आत्मगुणों के आलम्बन से साधना और स्वाध्याय को प्राण मिलते हैं।



अब स्वानुभूति दूर नहीं, स्वानुभूति का साक्षात्कार हो चुका है।

### ३. सारांश

साधना की गहराई तीन तरीकों से आती है : हमारी साधना हमें छोटी लगे, हमारी साधना प्रभु के द्वारा प्रमाणित हो, और हमारी साधना गुप्त हो।

प्रभु के शब्द जब हृदय को स्पर्श करेंगे तभी साधना में गहराई आएगी। अर्थात् साधना एवं स्वाध्याय में श्रद्धा एवं आत्मगुणावलम्बन से गहराई प्राप्त होती है। यह गहराई साधना के प्रत्येक पड़ाव की ओर साधक को आगे ले जाएगी।

यही है, स्वानुभूति से साक्षात्कार।



# પ.પૂ.આ. યશોવિજયસૂરિ મ.સા. દ્વારા લિખિત પુસ્તકે



- દરિસન તરસીએ... ભા.૧-૨  
(દ્વિતીય આવૃત્તિ)
- બિહુરત જાએ પ્રાણ...  
(દ્વિતીય આવૃત્તિ)
- આતમજ્ઞાની શ્રમણ કહાવે...  
(દ્વિતીય આવૃત્તિ)
- મેરે અવગુન ચિત ન ધરો...  
(દ્વિતીય આવૃત્તિ)
- ઋષભ જિનેસર પ્રીતમ માહરો રે...
- પ્રભુનો ખ્યારો સ્પર્શ
- આત્માનુભૂતિ
- અસ્તિત્વનું પરોઢ
- અનુભૂતિનું આકાશ
- રોમે રોમે પરમસ્પર્શ
- પ્રભુના હસ્તાક્ષર
- ધ્યાન અને કાચોત્સર્ગ  
(દ્વિતીય આવૃત્તિ)
- પ્રવચન અંજન જો સદ્ગુરુ કરે
- એકાન્તનો વૈભવ (તૃતીય આવૃત્તિ)
- રસો વૈ સઃ (દ્વિતીય આવૃત્તિ)
- સાધનાપથ (દ્વિતીય આવૃત્તિ)
- પરમ! તારા માર્ગે (દ્વિતીય આવૃત્તિ)
- પ્રગટ્યો પૂરન રાગ
- સાધનાનું શિખર
- વાત્સલ્યનો ઘૂઘવતો સાગર
- સમાધિ સતક (ભાગ ૧ થી ૪)
- સમુંદ સમાના બુંદ મેં
- સ્વાનુભૂતિની પગથારે
- સદ્ગુરુઃ શરણં મમ
- નિરંજન નાથ મોહિ કેસે મિલેંગે?
- દિલ અટકો તોર ચરન કમલ મેં...
- મોક્ષ તમારી હથેલીમાં...
- ધ્યાન : આંતર યાત્રા (હિન્દી આવૃત્તિ)
- ધ્યાન : આંતર યાત્રા (દ્વિતીય આવૃત્તિ)
- જુગ જુગથી ઝંખું છું તમને...
- સ્વાનુભૂતિ (દ્વિતીય આવૃત્તિ)

*Coming Soon*

- દેવચન્દ્રે સ્તવ્યો... (પૂ. દેવચન્દ્રજી મહારાજનાં સ્તવનોની કેટલીક પંક્તિઓ પર સંવેદના)
- માન વિજય વાચક કહે...(મહો. માનવિજય મહારાજનાં સ્તવનોની કેટલીક પંક્તિઓ પર સંવેદના)
- ઋષભ જિનેસર પ્રીતમ માહરો રે... (દ્વિતીય આવૃત્તિ)
- Meditation : A Journey within (Dhyan : Antar Yatra in English)



## પ્રથમ આત્મદર્શન-આત્મઅનુભવ

આત્માને સમ્યક્ પ્રકારે અને તે જે રીતે છે તે રીતે,  
તેના મૂલ્ય સ્વરૂપે ઓઝાલખવો તથા જોવો તે સમ્યગ્દર્શન.  
આત્મઅનુભવ અને સમ્યગ્દર્શન એક જ છે.  
શુદ્ધ આત્માની પ્રતીતિ પળ તેને જ કહેવાય.  
જે સમયે આત્માને સમ્યક્ પ્રકારે જોયો,  
તે જ સમયે શ્રદ્ધા સમ્યક્ બની.  
અનુભવમાં વિકલ્પ ન હોય.  
જ્યાં સુધી આત્માને પ્રત્યક્ષ અનુભવ્યો નહોતો,  
ત્યાં સુધી શ્રદ્ધા શંકાવાળી હતી.  
જ્યારે આત્માને પ્રત્યક્ષ અનુભવ્યો,  
પછી જે શ્રદ્ધા થઈ તે નિશ્ચય બની.  
અનુભવીએ જુદું તથા શ્રદ્ધા જુદી થાય એવું ન બને.  
જે સમયે સમ્યગ્દર્શન થયું, આત્માની શુદ્ધ પ્રતીતિ થઈ,  
તે સમયે જ્ઞાન જે મિથ્યાત્વવાળું હતું,  
તે પલટાઈને સમ્યક્ બન્યું.  
આમ સમ્યગ્દર્શન-સમ્યગ્જ્ઞાન બંને સાથે જ થયું.



# સ્વાનુભૂતિ

પૂજ્ય પંચાસજી ભગવંત  
ભદ્રંકરવિજયજી મહારાજા  
(હસ્તાક્ષરનું અક્ષયપાત્ર  
ભાગ - 27, પેજ નં. 2)

JSBN  
OMKAR0008



MULTY GRAPHICS  
(022) 25873272 ~ 23884222